



This is a digital copy of a book that was preserved for generations on library shelves before it was carefully scanned by Google as part of a project to make the world's books discoverable online.

It has survived long enough for the copyright to expire and the book to enter the public domain. A public domain book is one that was never subject to copyright or whose legal copyright term has expired. Whether a book is in the public domain may vary country to country. Public domain books are our gateways to the past, representing a wealth of history, culture and knowledge that's often difficult to discover.

Marks, notations and other marginalia present in the original volume will appear in this file - a reminder of this book's long journey from the publisher to a library and finally to you.

### Usage guidelines

Google is proud to partner with libraries to digitize public domain materials and make them widely accessible. Public domain books belong to the public and we are merely their custodians. Nevertheless, this work is expensive, so in order to keep providing this resource, we have taken steps to prevent abuse by commercial parties, including placing technical restrictions on automated querying.

We also ask that you:

- + *Make non-commercial use of the files* We designed Google Book Search for use by individuals, and we request that you use these files for personal, non-commercial purposes.
- + *Refrain from automated querying* Do not send automated queries of any sort to Google's system: If you are conducting research on machine translation, optical character recognition or other areas where access to a large amount of text is helpful, please contact us. We encourage the use of public domain materials for these purposes and may be able to help.
- + *Maintain attribution* The Google "watermark" you see on each file is essential for informing people about this project and helping them find additional materials through Google Book Search. Please do not remove it.
- + *Keep it legal* Whatever your use, remember that you are responsible for ensuring that what you are doing is legal. Do not assume that just because we believe a book is in the public domain for users in the United States, that the work is also in the public domain for users in other countries. Whether a book is still in copyright varies from country to country, and we can't offer guidance on whether any specific use of any specific book is allowed. Please do not assume that a book's appearance in Google Book Search means it can be used in any manner anywhere in the world. Copyright infringement liability can be quite severe.

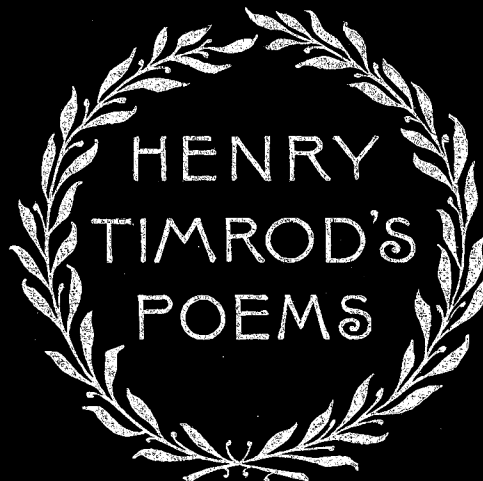
### About Google Book Search

Google's mission is to organize the world's information and to make it universally accessible and useful. Google Book Search helps readers discover the world's books while helping authors and publishers reach new audiences. You can search through the full text of this book on the web at <http://books.google.com/>

POEMS  
OF  
HENRY  
TIMROD



828  
T586  
1899



NEWINGTON  
MAY 1899

PROPERTY OF

*The  
University of  
Michigan  
Libraries*

1817

ARTES SCIENTIA VERITAS

Oscar Woodward Zeigler

Muscon Mass. 199

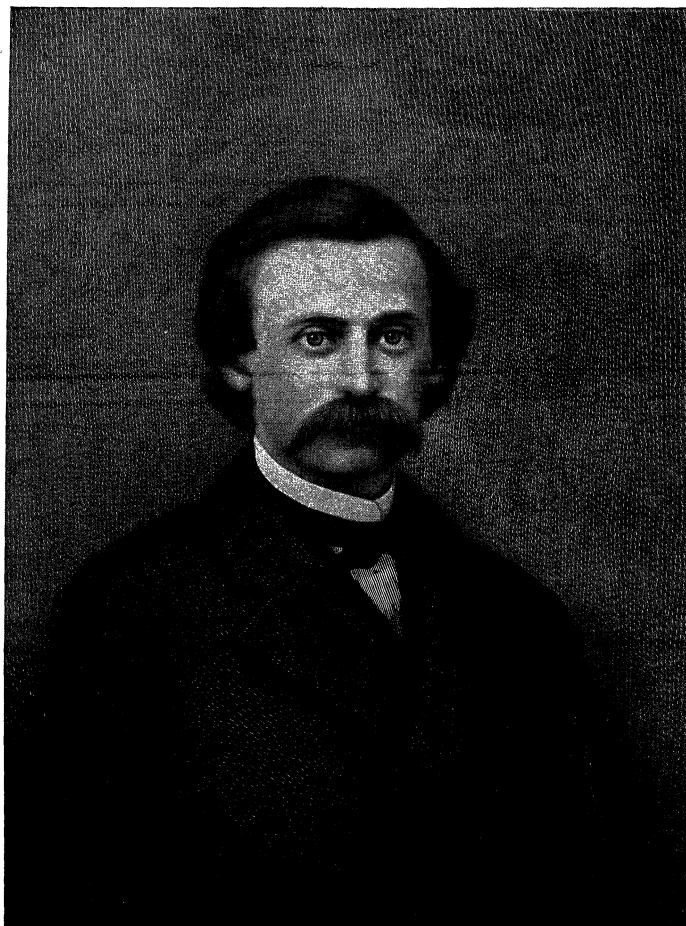


1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38	39	40	41	42	43	44	45	46	47	48	49	50	51	52	53	54	55	56	57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71	72	73	74	75	76	77	78	79	80	81	82	83	84	85	86	87	88	89	90	91	92	93	94	95	96	97	98	99	100	101	102	103	104	105	106	107	108	109	110	111	112	113	114	115	116	117	118	119	120	121	122	123	124	125	126	127	128	129	130	131	132	133	134	135	136	137	138	139	140	141	142	143	144	145	146	147	148	149	150	151	152	153	154	155	156	157	158	159	160	161	162	163	164	165	166	167	168	169	170	171	172	173	174	175	176	177	178	179	180	181	182	183	184	185	186	187	188	189	190	191	192	193	194	195	196	197	198	199	200	201	202	203	204	205	206	207	208	209	210	211	212	213	214	215	216	217	218	219	220	221	222	223	224	225	226	227	228	229	230	231	232	233	234	235	236	237	238	239	240	241	242	243	244	245	246	247	248	249	250	251	252	253	254	255	256	257	258	259	260	261	262	263	264	265	266	267	268	269	270	271	272	273	274	275	276	277	278	279	280	281	282	283	284	285	286	287	288	289	290	291	292	293	294	295	296	297	298	299	300	301	302	303	304	305	306	307	308	309	310	311	312	313	314	315	316	317	318	319	320	321	322	323	324	325	326	327	328	329	330	331	332	333	334	335	336	337	338	339	340	341	342	343	344	345	346	347	348	349	350	351	352	353	354	355	356	357	358	359	360	361	362	363	364	365	366	367	368	369	370	371	372	373	374	375	376	377	378	379	380	381	382	383	384	385	386	387	388	389	390	391	392	393	394	395	396	397	398	399	400	401	402	403	404	405	406	407	408	409	410	411	412	413	414	415	416	417	418	419	420	421	422	423	424	425	426	427	428	429	430	431	432	433	434	435	436	437	438	439	440	441	442	443	444	445	446	447	448	449	450	451	452	453	454	455	456	457	458	459	460	461	462	463	464	465	466	467	468	469	470	471	472	473	474	475	476	477	478	479	480	481	482	483	484	485	486	487	488	489	490	491	492	493	494	495	496	497	498	499	500	501	502	503	504	505	506	507	508	509	510	511	512	513	514	515	516	517	518	519	520	521	522	523	524	525	526	527	528	529	530	531	532	533	534	535	536	537	538	539	540	541	542	543	544	545	546	547	548	549	550	551	552	553	554	555	556	557	558	559	560	561	562	563	564	565	566	567	568	569	570	571	572	573	574	575	576	577	578	579	580	581	582	583	584	585	586	587	588	589	590	591	592	593	594	595	596	597	598	599	600	601	602	603	604	605	606	607	608	609	610	611	612	613	614	615	616	617	618	619	620	621	622	623	624	625	626	627	628	629	630	631	632	633	634	635	636	637	638	639	640	641	642	643	644	645	646	647	648	649	650	651	652	653	654	655	656	657	658	659	660	661	662	663	664	665	666	667	668	669	670	671	672	673	674	675	676	677	678	679	680	681	682	683	684	685	686	687	688	689	690	691	692	693	694	695	696	697	698	699	700	701	702	703	704	705	706	707	708	709	710	711	712	713	714	715	716	717	718	719	720	721	722	723	724	725	726	727	728	729	730	731	732	733	734	735	736	737	738	739	740	741	742	743	744	745	746	747	748	749	750	751	752	753	754	755	756	757	758	759	760	761	762	763	764	765	766	767	768	769	770	771	772	773	774	775	776	777	778	779	780	781	782	783	784	785	786	787	788	789	790	791	792	793	794	795	796	797	798	799	800	801	802	803	804	805	806	807	808	809	810	811	812	813	814	815	816	817	818	819	820	821	822	823	824	825	826	827	828	829	830	831	832	833	834	835	836	837	838	839	840	841	842	843	844	845	846	847	848	849	850	851	852	853	854	855	856	857	858	859	860	861	862	863	864	865	866	867	868	869	870	871	872	873	874	875	876	877	878	879	880	881	882	883	884	885	886	887	888	889	890	891	892	893	894	895	896	897	898	899	900	901	902	903	904	905	906	907	908	909	910	911	912	913	914	915	916	917	918	919	920	921	922	923	924	925	926	927	928	929	930	931	932	933	934	935	936	937	938	939	940	941	942	943	944	945	946	947	948	949	950	951	952	953	954	955	956	957	958	959	960	961	962	963	964	965	966	967	968	969	970	971	972	973	974	975	976	977	978	979	980	981	982	983	984	985	986	987	988	989	990	991	992	993	994	995	996	997	998	999	1000
---	---	---	---	---	---	---	---	---	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	------









*Faithfully yours  
Henry Dimrod*

*[Reproduced for this memorial edition from the oil portrait in Hon. William A. Courtenay's  
Library, Innisfallen, South Carolina]*

Memorial Edition

---

POEMS OF  
HENRY TIMROD

WITH  
MEMOIR AND PORTRAIT



BOSTON AND NEW YORK  
HOUGHTON, MIFFLIN AND COMPANY  
The Riverside Press, Cambridge  
1899

828  
T586  
1899

COPYRIGHT, 1899, BY MRS. KATE LLOYD  
ALL RIGHTS RESERVED

*Stark*  
*Gift*  
*3-26-64*  
*added copy*

## CONTENTS

	PAGE
INTRODUCTION . . . . .	vii
THE LATE JUDGE GEORGE S. BRYAN . . . . .	xxxix
SPRING . . . . .	3
THE COTTON BOLL . . . . .	6
PRÆCEPTOR AMAT . . . . .	12
THE PROBLEM . . . . .	16
A YEAR'S COURTSHIP . . . . .	20
SERENADE . . . . .	23
YOUTH AND MANHOOD . . . . .	24
HARK TO THE SHOUTING WIND . . . . .	26
TOO LONG, O SPIRIT OF STORM . . . . .	27
THE LILY CONFIDANTE . . . . .	28
THE STREAM IS FLOWING FROM THE WEST . . . . .	30
VOX ET PRÆTEREA NIHIL . . . . .	31
MADELINE . . . . .	32
A DEDICATION . . . . .	36
KATIE . . . . .	38
WHY SILENT? . . . . .	45
TWO PORTRAITS . . . . .	46
LA BELLE JUIVE . . . . .	57
AN EXOTIC . . . . .	59
THE ROSEBUDS . . . . .	61
A MOTHER'S WAIL . . . . .	62
OUR WILLIE . . . . .	64
ADDRESS DELIVERED AT THE OPENING OF THE NEW THEATRE AT RICHMOND . . . . .	69
A VISION OF POESY . . . . .	74
THE PAST . . . . .	100
DREAMS . . . . .	101
THE ARCTIC VOYAGER . . . . .	103
DRAMATIC FRAGMENT . . . . .	105
THE SUMMER BOWER . . . . .	106

A RHAPSODY OF A SOUTHERN WINTER NIGHT . . .	109
FLOWER-LIFE . . . . .	113
A SUMMER SHOWER . . . . .	115
BABY'S AGE . . . . .	117
THE MESSENGER ROSE . . . . .	118
ON PRESSING SOME FLOWERS . . . . .	119
1866 — ADDRESSED TO THE OLD YEAR . . . . .	120
STANZAS: A MOTHER GAZES UPON HER DAUGHTER . . . . .	122
HYMN SUNG AT AN ANNIVERSARY OF THE ASYLUM OF ORPHANS AT CHARLESTON . . . . .	124
TO A CAPTIVE OWL . . . . .	125
LOVE'S LOGIC . . . . .	127
SECOND LOVE . . . . .	128
HYMN SUNG AT THE CONSECRATION OF MAGNOLIA CEM- ETERY . . . . .	129
HYMN SUNG AT A SACRED CONCERT . . . . .	130
LINES TO R. L. . . . .	131
TO WHOM? . . . . .	132
TO THEE . . . . .	133
STORM AND CALM . . . . .	134
RETIREMENT . . . . .	136
A COMMON THOUGHT . . . . .	137

## POEMS WRITTEN IN WAR TIMES

CAROLINA . . . . .	141
A CRY TO ARMS . . . . .	144
CHARLESTON . . . . .	146
RIPLEY . . . . .	148
ETHNOGENESIS . . . . .	150
CARMEN TRIUMPHALE . . . . .	154
THE UNKNOWN DEAD . . . . .	157
THE TWO ARMIES . . . . .	158
CHRISTMAS . . . . .	160
ODE SUNG ON THE OCCASION OF DECORATING THE GRAVES OF THE CONFEDERATE DEAD AT MAGNOLIA CEMETERY	164

## SONNETS

"POET! IF ON A LASTING FAME BE BENT" . . .	169
"MOST MEN KNOW LOVE BUT AS A PART OF LIFE" . .	170

## CONTENTS

v

"LIFE EVER SEEMS AS FROM ITS PRESENT SITE" . . .	171
"THEY DUB THEE IDLER, SMILING SNEERINGLY" . . .	172
"SOME TRUTHS THERE BE ARE BETTER LEFT UNSAID" . . .	173
"I SCARCELY GRIEVE, O NATURE! AT THE LOT" . . .	174
"GRIEF DIES LIKE JOY; THE TEARS UPON MY CHEEK" . . .	175
"AT LAST, BELOVED NATURE! I HAVE MET" . . .	176
"I KNOW NOT WHY, BUT ALL THIS WEARY DAY" . . .	177
"WERE I THE POET-LAUREATE OF THE FAIRIES" . . .	178
"WHICH ARE THE CLOUDS, AND WHICH THE MOUNTAINS? SEE" . . .	179
"WHAT GOSSAMER LURES THEE NOW? WHAT HOPE, WHAT NAME" . . .	180
"I THANK YOU, KIND AND BEST BELOVED FRIEND" . . .	181
"ARE THESE WILD THOUGHTS, THUS FETTERED IN MY RHYMES" . . .	182
IN MEMORIAM—HARRIS SIMONS . . .	183

## POEMS NOW FIRST COLLECTED

SONG COMPOSED FOR WASHINGTON'S BIRTHDAY . . .	187
A BOUQUET . . .	188
LINES: "I STOOPED FROM STAR-BRIGHT REGIONS" . . .	189
A TRIPLE . . .	190
LINES: "I SAW, OR DREAMED I SAW, HER SITTING LONE" . . .	191
SONNET: "IF I HAVE GRACED NO SINGLE SONG OF MINE" . . .	192
TO ROSA —: ACROSTIC . . .	193

NOTE. The frontispiece portrait of Henry Timrod was engraved from the portrait in the possession of Hon. William A. Courtenay, for the Century Company, who have kindly presented it for use in this volume.



## INTRODUCTION

"A TRUE poet is one of the most precious gifts that can be bestowed on a generation." He speaks for it and he speaks to it. Reflecting and interpreting his age and its thoughts, feelings, and purposes, he speaks for it; and with a love of truth, with a keener moral insight into the universal heart of man, and with the intuition of inspiration, he speaks to it, and through it to the world. It is thus

"The poet to the whole wide world belongs,  
Even as the Teacher is the child's."

"Nor is it to the great masters alone that our homage and thankfulness are due. Wherever a true child of song strikes his harp, we love to listen. All that we ask is that the music be native, born of impassioned impulse that will not be denied, heartfelt, like the lark when she soars up to greet the morning and pours out her song by the same quivering ecstasy that impels her flight." For though the voices be many, the oracle is one, for "God gave the poet his song."

Such was Henry Timrod, the Southern poet. A child of nature, his song is the voice of the South-



land. Born in Charleston, S. C., his life cast in the seething torrent of civil war, his voice was also the voice of Carolina, and through her of the South, in all the rich glad life poured out in patriotic pride into that fatal struggle, in all the valor and endurance of that dark conflict, in all the gloom of its disaster, and in all the sacred tenderness that clings about its memories. He was the poet of the Lost Cause, the finest interpreter of the feelings and traditions of the splendid heroism of a brave people. Moreover, by his catholic spirit, his wide range, and world-wide sympathies, he is a true American poet.

The purpose of the TIMROD MEMORIAL ASSOCIATION of his native city and State, in undertaking this new edition of his poems, is to erect a suitable public memorial to the poet, and also to let his own words renew and keep his own memory in his land's literature.

The earliest edition of Timrod's poems was a small volume by Ticknor & Fields, of Boston, in 1860, just before the Civil War. This contained only the poems of the first eight or nine years previous, and was warmly welcomed North and South. The "New York Tribune" then greeted this small first volume in these words: "These poems are worthy of a wide audience, and they form a welcome offering to the common literature of our country."

In this first volume was evinced the culture, the lively fancy, the delicate and vigorous imagination, and the finished artistic power of his mind, even then rejoicing in the fullness and freshness of its creations and in the unwearied flow of its natural music. But it fell then on the great world of letters almost unheeded, shut out by the war cloud that soon broke upon the land, enveloping all in darkness.

The edition of his complete poems was not issued until the South was recovering from the ravage of war, and was entitled "The Poems of Henry Timrod, edited with a sketch of the Poet's life by Paul H. Hayne. E. J. Hale & Son, publishers, New York, 1873." And immediately, in 1874, there followed a second edition of this volume, which contained the noble series of war poems and other lyrics written since the edition of 1860. In 1884 an illustrated edition of "Katie" was published by Hale & Son, New York. All of these editions were long ago exhausted by an admiring public.

The present edition contains the poems of all the former editions, and also some earlier poems not heretofore published.

The name of Timrod has been closely identified with the history of South Carolina for over a century. Before the Revolution, Henry Timrod, of German birth, the founder of the family in Amer-

ica, was a prominent citizen of Charleston, and the president of that historic association, the German Friendly Society, still existing, a century and a quarter old. We find his name first on the roll of the German Fusiliers of Charleston, volunteers formed in May, 1775, for the defense of the country, immediately on hearing of the battle of Lexington. Again in the succeeding generation, in the Seminole war and in the peril of St. Augustine, the German Fusiliers were commanded by his son, Captain William Henry Timrod, who was the father of the poet, and who himself published a volume of poems in the early part of the century. He was the editor of a literary periodical published in Charleston, to which he himself largely contributed. He was of strong intellect and delicate feelings, and an ardent patriot.

Some of the more striking of the poems of the elder Timrod are the following. Washington Irving said of these lines that Tom Moore had written no finer lyric: —

TO TIME, THE OLD TRAVELER

THEY slander thee, Old Traveler,  
Who say that thy delight  
Is to scatter ruin, far and wide,  
In thy wantonness of might:  
For not a leaf that falleth  
Before thy restless wings,  
But in thy flight, thou changest it  
To a thousand brighter things.

## INTRODUCTION

xi

Thou passest o'er the battlefield  
Where the dead lie stiff and stark,  
Where naught is heard save the vulture's scream,  
And the gaunt wolf's famished bark ;  
But thou hast caused the grain to spring  
From the blood-enrich'd clay,  
And the waving corn-tops seem to dance  
To the rustic's merry lay.

Thou hast strewed the lordly palace  
In ruins on the ground,  
And the dismal screech of the owl is heard  
Where the harp was wont to sound ;  
But the selfsame spot thou coverest  
With the dwellings of the poor,  
And a thousand happy hearts enjoy  
What *one* usurped before.

'T is true thy progress layeth  
Full many a loved one low,  
And for the brave and beautiful  
Thou hast caused our tears to flow ;  
But always near the couch of death  
Nor thou, nor we can stay ;  
*And the breath of thy departing wings,  
Dries all our tears away !*

## THE MOCKING-BIRD

NOR did lack  
Sweet music to the magic of the scene :  
The little crimson-breasted Nonpareil  
Was there, his tiny feet scarce bending down  
The silken tendril that he lighted on  
To pour his love notes ; and in russet coat,  
Most homely, like true genius bursting forth

In spite of adverse fortune, a full choir  
 Within himself, the merry Mock Bird sate,  
 Filling the air with melody; and at times,  
*In the rapt favor of his sweetest song,*  
*His quivering form would spring into the sky,*  
*In spiral circles, as if he would catch*  
*New powers from kindred warblers in the clouds*  
*Who would bend down to greet him !*

These lines, addressed to the poet by his father,  
 have a pathetic interest : —

## TO HARRY

HARRY, my little blue-eyed boy,  
 I love to have thee playing near;  
 There's music in thy shouts of joy  
 To a fond father's ear.

I love to see the lines of mirth  
 Mantle thy cheek and forehead fair,  
 As if all pleasures of the earth  
 Had met to revel there;

For gazing on thee, do I sigh  
 That those most happy years must flee,  
 And thy full share of misery  
 Must fall in life on thee!

There is no lasting grief below,  
 My Harry! that flows not from guilt;  
 Thou canst not read my meaning now —  
 In after times thou wilt.

Thou 'lt read it when the churchyard clay  
 Shall lie upon thy father's breast,  
 And he, though dead, will point the way  
 Thou shalt be always blest.

## INTRODUCTION

xiii

They 'll tell thee this terrestrial ball,  
To man for his enjoyment given,  
Is but a state of sinful thrall  
To keep the soul from heaven.

My boy ! the verdure-crownèd hills,  
The vales where flowers innumeros blow,  
The music of ten thousand rills  
Will tell thee, 't is not so.

God is no tyrant who would spread  
Unnumbered dainties to the eyes,  
Yet teach the hungering child to dread  
That touching them he dies !

No ! all can do his creatures good,  
He scatters round with hand profuse —  
The only precept understood,  
*Enjoy, but not abuse !*

The poet's mother was the daughter of Mr. Charles Prince, a citizen of Charleston, whose parents had come from England just before the Revolution. Mr. Prince had married Miss French, daughter of an officer in the Revolution, whose family were from Switzerland. It was the influence of his mother also that helped to form the poet's character, and his intense and passionate love of nature. Her beautiful face and form, her purity and goodness, her delight in all the sights and sounds of the country, her childish rapture in wood and field, her love of flowers and trees, and all the mystery and gladness of nature, are among the cherished memories of all her children, and vividly described by the poet's sister.

William Henry Timrod, father of the poet, died of disease contracted in the Florida war, and his family thereafter were in straitened circumstances. Nevertheless, the early education of his gifted son was provided for. Paul H. Hayne, the poet, was one of his earliest friends and schoolmates at Charleston's best school. They sat together, and to his brother boy-poet he first showed his earliest verses in exulting confidence. This friendship and confidence lasted through life, and Hayne has tenderly embalmed it in his sketch of the poet. We have this faithful picture of him at that time :—

“Modest and diffident, with a nervous utterance, but with melody ever in his heart and on his lip. Though always slow of speech, he was yet, like Burns, quick to learn. The chariot wheels might jar in the gate through which he tried to drive his winged steeds, but the horses were of celestial temper and the car purest gold.”

His school-fellows remember him as silent and shy, full of quick impulse, and with an eager ambition, insatiable in his thirst for books, yet mingling freely in all sports, and rejoicing unspeakably in the weekly holiday and its long rambles through wood and field. “The sweet security of streets” had no charm for him. He rejoiced in Nature and her changing scenes and seasons. She was always to him comfort, refreshment, balm. She never turned her face from him, and through all his years he “leaned on her breast with loving trustfulness as a little child.”

But he had other teachers. He studied all classic literature. "The Æschylean drama had no attraction for him; he reveled in the rich and elegant strains of Virgil, and of the many toned lyre of Horace and the silver lute of Catullus." From the full and inexhaustible fountain of English letters he drank unceasingly. Spenser, Shakespeare, Milton, Burns, Wordsworth, and, later, Tennyson were his immediate inspiration.

His college life at the University of Georgia was interrupted by sickness and cramped by lack of means, and his literary plans were foiled by necessity. Nevertheless, he left his Alma Mater with a mind stirred to its depths, and with a large store of learning, and had already sounded with clear note those chords which were afterwards so vocal in melody.

Dr. J. Dickson Bruns has left this graphic description of Timrod's personal appearance, and of some prominent traits of his social character:—

"In stature," he says, "Timrod was far below the medium height. He had always excelled in boyish sports, and, as he grew to manhood, his unusual breadth of shoulder still seemed to indicate a physical vigor which the slender wrists, thin, transparent hands, and habitually lax attitude but too plainly contradicted.

"The square jaw was almost stern in its strongly pronounced lines, the mouth large, the lips exquisitely sensitive, the gray eyes set deeply under mas-



sive brows, and full of a melancholy and pleading tenderness, which attracted attention to his face at once, as the face of one who had thought and suffered much.

“His walk was quick and nervous, with an energy in it that betokened decision of character, but ill sustained by the stammering speech ; for in society he was the shyest and most undemonstrative of men. To a single friend whom he trusted, he would pour out his inmost heart ; but let two or three be gathered together, above all, introduce a stranger, and he instantly became a quiet, unobtrusive listener, though never a moody or uncongenial one !

“Among men of letters, he was always esteemed as a most sympathetic companion ; timid, reserved, unready, if taken by surprise, but highly cultivated, and still more highly endowed.

“The key to his social character was to be found in the feminine gentleness of his temperament. He shrank from noisy debate, and the wordy clash of argument, as from a blow. It stunned and bewildered him, and left him, in the mêlée, alike incapable of defense or attack. And yet, when some burly protagonist would thrust himself too rudely into the ring, and try to bear down opposition by sheer vehemence of declamation, from the corner where he sat ensconced in unregarded silence, *he would suddenly sling out some sharp, swift pebble of thought*, which he had been slowly rounding, and

smite with an aim so keen and true as rarely failed to bring down the boastful Anakim ! ”

In Charleston, as a first effort in life, for a brief period Timrod attempted the law, but found that jealous mistress unsuited to his life work, though he had all the opportunity afforded him in the office of his friend, the Hon. J. L. Petigru, the great jurist. Leaving the bar, he thenceforward devoted himself to literature and to his art.

Charleston to Timrod was home, and he always returned with kindling spirit to the city of his love. There were all his happiest associations and the delight of purest friendships, — W. Gilmore Simms and Paul Hayne, and the rest of the literary coterie that presided over “Russell’s Magazine,” and Judge Bryan and Dr. Bruns (to whom Hayne dedicated his edition of Timrod’s poems), and others were of this glad fellowship, and his social hours were bright in their intercourse and in the cordial appreciation of his genius and the tender love they bore him. These he never forgot, and returning after the ravage of war to his impoverished and suffering city, he writes, in the last year of his young life, “My eyes were blind to everything and everybody but a few old friends.”

Suited by endowment and prepared by special study for a professorship, still all his efforts for the academic chair failed, and, finally, he was compelled to become a private teacher, an office the sacredness of which he profoundly realized. In

his leisure hours he now gave himself up to deeper study of nature, literature, and man. It was in these few years of quiet retreat that he wrote the poems contained in the first edition of his works, 1859-60, which, laden with all the poet's longing to be heard, were little heeded in the first great shock of war. Indeed, in such a storm, what shelter could a poet find? An ardent Carolinian, devoted to his native State with an allegiance as to his country, he left his books and study, and threw himself into the struggle, a volunteer in the army. In the first years of the war he was in and near Charleston, and wrote those memorable poems and martial lyrics: "Carolina," "A Call to Arms," "Charleston," "Ripley," "Ethnogenesis," and "The Cotton Boll," which deeply stirred the heart of his State, and, indeed, of the whole South. His was the voice of his people. Under its spell the public response was quick, and promised largest honor and world-wide fame for the poet. The project formed by some of the most eminent men of the State, late in 1862, was to publish an illustrated and highly embellished edition of his works in London. The war correspondent of the "London Illustrated News," Vizitelly, himself an artist, promised original illustrations, and the future seemed bright for the gratification of his heart's desire, to be known and heard in the great literary centre of the English-speaking world. But disappointment again was his lot. Amid the increasing stress of

the conflict, every public and private energy in the South was absorbed in maintaining the ever weakening struggle ; and with all art and literature and learning our poet's hopes were buried in the common grave of war ; not because he was not loved and cherished, and his genius appreciated, but because a terrible need was upon his people, and desperate issues were draining their life-blood. Then he went to the front. Too weak for the field (for the fatal weakness that finally sapped his life was then upon him), he was compelled, under medical direction, to retire from the battle ranks, and made a last desperate effort to serve the cause he loved as a war correspondent. In this capacity he joined the great army of the West after the battle of Shiloh. The story of his camp life was indeed pathetic. Dr. Bruns writes of him then : "One can scarcely conceive of a situation more hopelessly wretched than that of a mere child in the world's ways suddenly flung down into the heart of that strong retreat, and tossed like a straw on the crest of those refluxing waves from which he escaped as by a miracle." Home he came, baffled, dispirited, and sore hurt, to receive the succor of generous friendship, and for a brief time a safe congenial refuge, in 1864, in an editor's chair of the "South Carolinian," at the capital of his native State. Here his strong pen wrote the stirring editorials of that critical time, and there, tempted by the passing hour of comparative calm, he mar-

ried Miss Kate Goodwin, "Katie, the fair Saxon" of his exquisite song. Here the war that had broken all his plans, and wrecked his health and hopes, and made literature for a time in the South a beggar's vocation, left him with wife and child, the "darling Willie" of his verse, dependent upon his already sapped and fast failing strength for support. Here he saw the capital of his native State, marked for vengeance, pitilessly destroyed by fire and sword. Here gaunt ruin stalked and want entered his own home, made desolate as all the hearthstones of his people. Here the peace that ensued was the peace of the desert! Here the army, defeated and broken, came back after the long heroic struggle to blackened chimneys, sole vestige of home, and the South, with not even bread for her famished children, still stood in solemn silence by those deeper furrows watered with blood. The suffering that he endured was the common suffering of those around him,—actual physical want and lack of the commonest comforts of life, felt most keenly by his sensitive nature and delicate constitution. In the midst of this fierce stress, his darling boy, the crown of his life, died. All his affections, it seemed, were poured out at once, as water spilled upon the ground. He was dying of consumption, and earth shadows crowded around him.

Though long in feeble health, his last illness was brief. The best physicians lovingly gave their skill-

ful ministration, and the State's most eminent men, in their common need, tenderly cared for him and his. With death before him, he clung passionately to his art, absorbed in that alone and in the great Beyond. His latest occupation was correcting the proof-sheets of his own poems, and he passed away with them by his side, stained with his life-blood.

In the autumn of 1867 he was laid by his beloved child in Trinity churchyard, Columbia, S. C. General Hampton, Governor Thompson, and other great Carolinians bore him to the grave, — a grave that, through the sackcloth of the Reconstruction period in South Carolina, remained without a stone. But as he himself wrote of the host of the Southern dead of the war, —

“In seeds of laurel in the earth  
The blossom of your fame is blown,  
And somewhere waiting for its birth,  
The shaft is in the stone.”

In later years loving friends reared a small memorial shaft to mark his grave. It was in that dark period that Carl McKinley's genius was touched to these fine lines.

AT TIMROD'S GRAVE. 1877

HARP of the South! no more, no more  
Thy silvery strings shall quiver,  
The one strong hand might win thy strains  
Is chilled and stilled forever.

Our one sweet singer breaks no more  
The silence sad and long,  
The land is hushed from shore to shore,  
It brooks no feebler song!

No other voice can charm our ears,  
None other soothe our pain;  
Better these echoes lingering yet,  
Than any ruder strain.

For singing, Fate has given sighs,  
For music we make moan;  
Oh, who may touch the harp-strings since  
That whisper — "*He is gone!*"

See where he lies — his last sad home  
Of all memorial bare,  
Save for a little heap of leaves  
The winds have gathered there!

One fair frail shell from some far sea  
Lies lone above his breast,  
Sad emblem and sole epitaph  
To mark his place of rest.

The sweet winds murmur in its heart  
A music soft and low,  
As they would bring their secrets still  
To him who sleeps below.

And lo! one tender, tearful bloom  
Wins upward through the grass,  
As some sweet thought he left unsung  
Were blossoming at last.

Wild weeds grow rank about the place,  
A dark, cold spot, and drear;

The dull neglect that marked his life  
Has followed even here.

Around shine many a marble shaft  
And polished pillars fair,  
And strangers stand on Timrod's grave  
To praise them, unaware !

"Hold up the glories of thy dead !"  
To thine own self be true,  
Land that he loved ! Come, honor now  
This grave that honors you !

The one characteristic above all others that marked the poet's life was his unfaltering trust, — the soul's unclouded sky, a quenchless radiance of blessed sunlight amid the deep darkness that encompassed him.

As in his poetry there is no false note, no doubtful sentiment, no selfish grief, even when he sings with breast against the thorn, so in his life do we find no word of bitterness or moaning or complaining. Even amid the terrible blight of war and its final utter ruin, prophet-like, he speaks in faith and hope and courage. His own heart breaking, and life ebbing, he writes of Spring as the true Reconstructionist, and pleads her message to his stricken people. It is so true and prophetic that we quote the words written in April, 1866.

"For Spring is a true Reconstructionist, — a reconstructionist in the best and most practical sense. There is not a nook in the land in which she is not at this moment exerting her influence



in preparing a way for the restoration of the South. No politician may oppose her; her power defies embarrassment; but she is not altogether independent of help. She brings us balmy airs and gentle dews, golden suns and silver rains; and she says to us, 'These are the materials of the only work in which you need be at present concerned; avail yourselves of them to reclothe your naked country and feed your impoverished people, and you will find that, in the discharge of that task, you have taken the course which will most certainly and most peacefully conduct you to the position which you desire. Turn not aside to bandy epithets with your enemies; stuff your ears, like the princess in the Arabian Nights, against words of insult and wrong; pause not to muse over your condition, or to question your prospects; but toil on bravely, silently, surely.' . . .

"Such are the words of wise and kindly counsel, which, if we attend rightly, we may all hear in the winds and read in the skies of Spring. Nowhere, however, does she speak with so eloquent a voice or so pathetic an effect as in this ruined town. She covers our devastated courts with images of renovation in the shape of flowers; she hangs once more in our blasted gardens the fragrant lamps of the jessamine; in our streets she kindles the maple like a beacon; and from amidst the charred and blackened ruins of once happy homes she pours, through the mouth of her favorite musician, the

mocking-bird, a song of hope and joy. What is the lesson which she designs by these means to convey? It may be summed in a single sentence, — forgetfulness of the past, effort in the present, and trust for the future.”

Such was the lofty creed and last hopeful, but dying message to his brothers of the South, whose war songs he had written, and the requiem of whose martyred hosts he had chanted.

Such was the tragedy that ended in October, 1867, with the hero at the age of thirty-seven; glory, genius, anguish, tears, but unconquerable faith and heroic fortitude. His larger life scarce begun, his full power felt, but only half expressed, he realized deeply —

“The petty done, the vast undone!”

He yearned with passionate longing and hope and conscious might to fulfill an even greater mission; but in the infinite providence of God the full fruitage of this exquisite soul was for another sphere. He was indeed “one of those who stirred us, a friend of man and a lover. In no country of this earth could he long have been an alien, and that may now be said of his spirit. In no part of this universe could it feel lonely or unbefriended; it was in harmony with all that flowers or gives perfume in life.”

The story of his last days, as given by his poet-friend, Paul Hayne, at the latter's cottage among

the pines, is of tender and peculiar interest, and we quote it here, as it was written in 1873:—

... In the latter summer-tide of this same year (1867), I again persuaded him to visit me. Ah! how sacred now, how sad and sweet, are the memories of that rich, clear, prodigal August of '67!

We would rest on the hillsides, in the swaying golden shadows, watching together the Titanic masses of snow-white clouds which floated slowly and vaguely through the sky, suggesting by their form, whiteness, and serene motion, despite the season, flotillas of icebergs upon Arctic seas. Like Lazzaroni we basked in the quiet noons, sunk into the depths of reverie, or perhaps of yet more "charmed sleep." Or we smoked, conversing lazily between the puffs,

"Next to some pine whose antique roots just peeped  
From out the crumbling bases of the sand."

But the evenings, with their gorgeous sunsets "rolling down like a chorus" and the "gray-eyed melancholy gloaming," were the favorite hours of the day with him. He would often apostrophize twilight in the language of Wordsworth's sonnet:—

"Hail, twilight! sovereign of one peaceful hour!  
Not dull art thou as undiscerning night;  
But only studious to remove from sight  
Day's mutable distinctions."

"Yes," said he, "she is indeed sovereign of *one peaceful hour!* In the hardest, busiest time one feels the calm, merciful-minded queen stealing upon one in the fading light, and 'whispering,' as Ford has it (or is it Fletcher?),— '*whispering* tranquillity.'"

When in-doors and disposed to read, he took much pleasure in perusing the poems of Robert Buchanan and Miss Ingelow. The latter's "Ballads" particularly delighted him. One, written "in the old English manner," he quickly learned by heart, repeating it with a relish and fervor indescribable.

Here is the opening stanza:—

"Come out and hear the waters shoot, the owlet hoot, the  
owlet hoot;  
Yon crescent moon, a golden boat, hangs dim behind the  
tree, O!  
The dropping thorn makes white the grass, O! sweetest lass,  
and sweetest lass  
Come out and smell the ricks of hay adown the croft with  
me, O!"

With but a slight effort of memory I can vividly recall his voice and manner in repeating these simple yet beautiful lines.

They were the last verses I ever heard from the poet's lips.

Just as the woods were assuming their first delicate autumnal tints, Timrod took his leave of us. In a conversation on the night but one previous to his departure, we had been speaking of Dr. Parr and other literary persons of unusual age, when he observed: "I have n't the slightest desire, P——, to be an octogenarian, far less a centenarian, like old Parr; but I hope that I may be spared until I am *fifty* or fifty-five."

"About Shakespeare's age," I suggested.

"Oh!" he replied, smiling, "I was not thinking of THAT; but I'm sure that after fifty-five I would begin to wither, mind and body, and one hates the idea of a mummy, intellectual or physical. Do you remember

that picture of extreme old age which Charles Reade gives us in 'Never too Late to Mend'? George Fielding, the hero, is about going away from England to try his luck in Australia. All his friends and relations are around him, expressing their sorrow at his enforced voyage; all but his grandfather, aged ninety-two, who sits stolid and mumbling in his armchair.

"'Grandfather!' shouts George into the deafened ears, 'I'm going a long journey; mayhap shall never see you again; speak a word to me before I go!' Grandfather looks up, brightens for a moment, and cackles feebly out: 'George, fetch me some *snuff* from where you're going. See now' (half whimpering), 'I'm out of snuff.' A good point in the way of illustration, but not a pleasant picture."

On the 13th of September, ten days after Timrod's return to Columbia, he wrote me the following note:—

"Dear P——: I have been too sick to write before, and am still too sick to drop you more than a few lines. You will be surprised and pained to hear that I have had a severe hemorrhage of the lungs.

"I did not come home an instant too soon. I found them without money or provisions. Fortunately I brought with me a small sum. I won't tell you how small, but six dollars of it was from the editor of the 'Opinion' for my last poem.

"I left your climate to my injury. But not only for the sake of my health, I begin already to look back with longing regret to 'Copse Hill.' You have all made me feel as if I had *two* beloved homes!

"I wish that I could divide myself between them; or that I had wings, so that I might flit from one to other in a moment.

"I hope soon to write you at length. Yours," etc.

Again on the 16th I heard from him, thus:—

"Yesterday I had a still more copious hemorrhage! . . .

"I am lying supine in bed, forbidden to speak or make any exertion whatever. But I can't resist the temptation of dropping you a line, in the hope of calling forth a score or two from you in return.

"An awkward time this for me to be sick! We are destitute of funds, almost of food. But God will provide!

"I send you a Sonnet, written the other day, as an Obituary for Mr. Harris Simons. Tell me what you think of it—be sure! Love to your mother, wife, and my precious Willie [since the death of his own child he had turned with a yearning affection to my boy]. Let me hear from you soon—*very* soon! You'll do me more good than medicines!" etc.

On the 25th of the month confidence in Timrod's recovery was confirmed by a letter from Mrs. Goodwin:—

"Our brother," she writes, "is decidedly better; and if there be no recurrence of the hemorrhage will, I hope, be soon convalescent!"

A week and upwards passed on in silence. I received no more communications from Columbia. But early in October a vaguely threatening report reached my ears. On the 9th it was mournfully confirmed. Forty-eight hours before, Henry Timrod had expired!

On the 7th of October, the mortal remains of the poet, so worn and shattered, were buried in the cemetery of Trinity Church, Columbia.

There, in the ruined capital of his native State,

whence scholarship, culture, and social purity have been banished to give place to the orgies of semi-barbarians and the political trickery of adventurers and traitors; there, tranquil amid the vulgar turmoil of factions, reposes the dust of one of the truest and sweetest singers this country has given to the world.

Nature, kinder to his senseless ashes than ever Fortune had been to the living man, is prodigal around his grave — unmarked and unrecorded though it be — of her flowers and verdant grasses, of her rains that fertilize, and her purifying dews. The peace he loved, and so vainly longed for through stormy years, has crept to him at last, but only to fall upon the pallid eyelids, closed forever; upon the pulseless limbs, and the breathless, broken heart. Still it is good to know that

“After life’s fitful fever, he sleeps well.”

Yet, from this mere material repose, this quiet of decaying atoms, surely the most skeptical of thinkers, in contemplation of *such* a life and *such* a death, must instinctively look from earth to heaven; from the bruised and mouldering clod to the spirit infinitely exalted, and radiant in redemption.

“A calm, a beautiful, a sacred star.”

The poetic creed of Timrod, expressed in his “Vision of Poesy,” set the impress upon all his work. Conscious of his power, he reverently believed in the mission of the poet as prophet and teacher, —

“The mission of Genius on Earth! To uplift,  
Purify, and confirm, by its own gracious gift,  
The world,” —

and he has consecrated his gift to its noblest uses in the discharge of that "high and holy debt."

As lover of man and nature, his sympathy was universal; no theme was too humble for his pen. "The same law that moulds a planet forms a drop of dew." "Humility is power!" "We may trace the mighty sun above even by the shadow of a slender flower." Yet he dealt not with the fleeting; that was only the passing form of the abiding. Passionately fond as he was of Nature, and nourished and refreshed by her always, he never wrote a line of mere descriptive poetry. Nature is only the symbol, the image, to interpret his spiritual meaning. He felt with Milton, in his noble words, that the abiding work is not raised in the heat of youth or the vapors of wine, or by "invocation to dame Memory and her siren daughters, but by devout prayer to that Eternal Spirit who can enrich with all utterance and knowledge, and send out his seraphim with the hallowed fire of his altars to touch and purify the lips of whom He pleases."

Under that inspiration and revelation the poet is a divine interpreter of (in his own words) —

"All lovely things, and gentle — the sweet laugh  
Of children, Girlhood's kiss, and Friendship's clasp,  
The boy that sporteth with the old man's staff,  
The baby, and the breast its fingers grasp —  
All that exalts the grounds of happiness,  
All griefs that hallow, and all joys that bless,



"To me are sacred; at my holy shrine  
Love breathes its latest dreams, its earliest hints;  
I turn life's tasteless waters into wine,  
And flush them through and through with purple tints.  
Wherever Earth is fair, and Heaven looks down,  
I rear my altars, and I wear my crown."

It was this mission of Poetry that filled his mind and heart and life with abiding light, which made him cling passionately to life, not because of any physical fear of death, but because in that mission Art and Nature were so inexpressibly rich and sweet to him to reveal his message to man. In the benediction of his dying words, "Love is sweeter than rest!"

The moral purity of these poems is their distinctive quality, as it was of the man. With a universal sympathy for all life, still he moved always on the highest planes of thought and feeling and purpose. He seemed always to be impressed in his art with the truth of his own lines, —

"There is no unimpressive spot on earth,  
The beauty of the stars is over all."

His earnestness and deep poetic insight clothed all themes with the beauty and light that is in and over all.

Timrod's melancholy, the finest test of high poetic quality, when purified and spiritualized, has no Byronic bitterness, no selfish morbidness, no impenetrable gloom, but in his own exquisite lines it is, —

"A shadowy land, where joy and sorrow kiss,  
Each still to each corrective and relief,  
Where dim delights are brightened into bliss,  
And nothing wholly perishes but Grief.

"Ah, me! — not dies — no more than spirit dies;  
But in a change like death is clothed with wings;  
A serious angel, with entranced eyes,  
Looking to far off and celestial things."

Again, in all these poems there is a nameless spell of a simplicity, fervid yet tender, and an imagination, strong yet delicate, both in its perception and expression.

His style, "like noble music unto noble words," is elaborate, yet perfectly natural. There is no trace of labor; grace guides and power impels. So perfect is it at times in its natural power that the mind is almost unconscious of the word-symbol in grasping immediately the thought revealed.

There is in the verse a ceaseless melody and perfect finish. At times there is "the easy elegance of Catullus," always his delight, and a metrical translation of whose poems he had completed.

Rare endowment with broad culture is evinced in the high intellectual level always maintained; and the evenness of quality that is always of the mountain top. He always knows his power, and its range. His song is always clear and true.

Moreover, with a universality of poetic feeling, he has struck every chord, and always with a keen sensibility and delicacy of natural instinct. Among

the finest poems, how wide is this range and varied this power !

"The Vision of Poesy," his longest work, written in youth, essaying the mission and the philosophy of the poetic art, has some lofty passages, and all the promise of his later power, felicity, and melody.

"A Year's Courtship" is in its glow, and grace, and music the perfection of classic art.

The dainty voluptuousness in a "Serenade" kindles with the luxuriousness of the South.

His "Præceptor Amat" is warm with the breath of rapturous feeling, and rich with the fragrance of flowers.

"Ethnogenesis," "the birth of the nation," is regarded by some his greatest poem. It is prophecy linked with the hope and aspiration of the newborn nation of the South. A permanent image of the Southern nature and character is thus richly portrayed : —

"But the type

Whereby we shall be known in every land  
Is that vast gulf which lips our Southern strand,  
And through the cold, untempered ocean pours  
Its genial streams, that far off Arctic shores  
May sometimes catch upon the softened breeze  
Strange tropic warmth and hints of summer seas."

The Cotton Boll," in "the snow of Southern summers," is a forerunner of Lanier's "Corn." It reveals the mystic spell and kingly power of that far-stretching tropic snow, and contains that

glowing painting of Carolina from sea to mountain,  
which closes

“No fairer land hath fired a poet’s lays,  
Or given a home to man!”

“Too Long, O Spirit of Storm,” is the fused passion of the poet’s heart appalled at the moral death of stagnation. It has all the intensity and subtlety of Shelley.

In “The Lily Confidante,” delicate and fanciful as it is, the reply of the Lily “is a simple yet sacred melody,” hallowing the purity of passion.

“The Arctic Voyager” suggests Tennyson’s “Ulysses” in its high faith, lofty purpose, and sustained power.

“Spring” is the burst of the Southern spring, in its flooding life and glory and beauty. There is “a nameless pathos in the air.” A wonderful revelation is going on before our eyes! No miracle could startle in the ever new creation, so strange and rapturous is this joy of sense and spiritual rebirth.

Nor was his genius only reflective, and creative, and playful; his was a trumpet voice also. When the blast of war sounded, his voice rang like a clarion in “Carolina” and “Call to Arms.” Beyond their local meaning, which kindles and thrills, now as then, the men of the South, they have an abiding, universal power from the standpoint of art; for there is nothing finer in all the martial strains of the lyric.

Paul Hayne, his brother poet, speaking of "Carolina," as "lines destined perhaps to outlive the political vitality of the State, whose antique fame they celebrate," said:—

"I read them first, and was thrilled by their power and pathos, upon a stormy March evening in Fort Sumter! Walking along the battlements, under the red light of a tempestuous sunset, the wind steadily and loudly blowing from off the bar across the tossing and moaning waste of waters, driven inland; with scores of gulls and white sea-birds flying and shrieking round me,—those wild voices of Nature mingled strangely with the rhythmic roll and beat of the poet's impassioned music. The very spirit, or dark genius, of the troubled scene appeared to take up and to repeat such verses as—

"I hear a murmur as of waves  
That grope their way through sunless caves,  
Like bodies struggling in their graves,  
Carolina!  
And now it deepens; slow and grand  
It swells, as rolling to the land,  
An ocean broke upon the strand,  
Carolina!  
Shout! let it reach the startled Huns!  
And roar with all thy festal guns!  
It is the answer of thy sons,  
Carolina!"

Profoundly appealing as are Timrod's war strains, for they are the heart-cry of a people, still it should

be noted that there is scarcely a battle ode that does not close with an invocation to peace, such was the lofty nature of the poet. War to him was only the drawn sword of right, and truth, and justice, which accomplished, the prayer for peace was ever on his lips, as witness the noble invocation to Peace, closing his "Christmas," that has so often stirred and hushed at once the heart of the South.

The Ode, written for Memorial Day, April, 1867, of the Confederate graves at Charleston, was his last production. He had sung in lofty strains each phase of the struggle, its hope, its courage, its fear, its despair; he now sings his latest song, a wreath of flowers upon the unmarked graves of the Southern dead, and has hallowed these sacred mounds to his people in the words, —

"There is no holier spot of ground  
Than where defeated valor lies,  
By mourning beauty crowned!"

These poems are written in the life-blood of the poet and his generation. The patriotic fire, the devoted sacrifice and splendid achievement, that "Carolina," "Cry to Arms," "Unknown Dead," "Carmen Triumphale," "Charleston," "Storm and Calm," and the other of the war poems celebrate were not only the rushing tide of earnest feeling of a noble people then, but are now a part of the glory and heritage of the State, of the South, and of the American republic. They were the mighty

heart-beats of that great epoch. They are now irrevocable history, and make these poems a part of the abiding literature of America.

"A Common Thought" is the poet's premonition of his end; but he sees no vision of the dying glory of sunset, no going out into the dark, no presentiment of a vague and gloomy voyage on a homeless sea; but in the sunshine, in the growing light of ever broadening day, amid the joy and splendor of nature, bright prophecy and intuition of immortality, is to come the sudden, solemn mystery of the whisper, "He is gone!" And so it was. For as the sun broadened into glad day, and the full radiance illumined and animated earth and sea and sky, "as it purpled in the zenith, as it brightened on the lawn," this rich young life, in its own fresh morning of genius and spiritual sunshine, passed, and in his own triumphant words, —

"not dies, no more than Spirit dies;  
But in a change like death was clothed with wings."

## THE LATE JUDGE GEORGE S. BRYAN

IT would not be fitting that this memorial edition of Timrod's Poems should go forth to the world without proper recognition, on the part of the TIMROD MEMORIAL ASSOCIATION, of the relation occupied and the services rendered to the poet in his lifetime by the late Hon. George S. Bryan, of Charleston. During the whole of Timrod's career Judge Bryan was his devoted friend, ever ready to assist him materially, morally, and in every other respect.

His faith in Timrod's genius never wavered, and but for his early assistance, sympathy, and encouragement, much of the fruit of that genius would have been lost or wasted. He helped him in adversity, cheered him in his hours of anxiety and despondency, and from first to last, throughout the literary and spiritual history of the poet, he did more than any other friend to keep alive in his heart the steadfast flame of faith in his poetic destiny; Judge Bryan's name must always be inseparably connected with Henry Timrod's in the literary annals of South Carolina.

January, 1899.





## POEMS



## SPRING

SPRING, with that nameless pathos in the air  
Which dwells with all things fair,  
Spring, with her golden suns and silver rain,  
Is with us once again.

Out in the lonely woods the jasmine burns  
Its fragrant lamps, and turns  
Into a royal court with green festoons  
The banks of dark lagoons.

In the deep heart of every forest tree  
The blood is all aglee,  
And there's a look about the leafless bowers  
As if they dreamed of flowers.

Yet still on every side we trace the hand  
Of Winter in the land,  
Save where the maple reddens on the lawn,  
Flushed by the season's dawn ;

Or where, like those strange semblances we find  
That age to childhood bind,  
The elm puts on, as if in Nature's scorn,  
The brown of Autumn corn.

As yet the turf is dark, although you know  
That, not a span below,  
A thousand germs are groping through the gloom,  
And soon will burst their tomb.

Already, here and there, on frailest stems  
Appear some azure gems,  
Small as might deck, upon a gala day,  
The forehead of a fay.

In gardens you may note amid the dearth  
The crocus breaking earth ;  
And near the snowdrop's tender white and green,  
The violet in its screen.

But many gleams and shadows need must pass  
Along the budding grass,  
And weeks go by, before the enamored South  
Shall kiss the rose's mouth.

Still there 's a sense of blossoms yet unborn  
In the sweet airs of morn ;  
One almost looks to see the very street  
Grow purple at his feet.

At times a fragrant breeze comes floating by,  
And brings, you know not why,  
A feeling as when eager crowds await  
Before a palace gate

Some wondrous pageant; and you scarce would  
start,  
If from a beech's heart,  
A blue-eyed Dryad, stepping forth, should say,  
"Behold me! I am May!"

Ah! who would couple thoughts of war and crime  
With such a blessed time!  
Who in the west wind's aromatic breath  
Could hear the call of Death!

Yet not more surely shall the Spring awake  
The voice of wood and brake,  
Than she shall rouse, for all her tranquil charms,  
A million men to arms.

There shall be deeper hues upon her plains  
Than all her sunlit rains,  
And every gladdening influence around,  
Can summon from the ground.

Oh! standing on this desecrated mould,  
Methinks that I behold,  
Lifting her bloody daisies up to God,  
Spring kneeling on the sod,

And calling, with the voice of all her rills,  
Upon the ancient hills  
To fall and crush the tyrants and the slaves  
Who turn her meads to graves.

## THE COTTON BOLL

WHILE I recline  
At ease beneath  
This immemorial pine,  
Small sphere !  
(By dusky fingers brought this morning here  
And shown with boastful smiles),  
I turn thy cloven sheath,  
Through which the soft white fibres peer,  
That, with their gossamer bands,  
Unite, like love, the sea-divided lands,  
And slowly, thread by thread,  
Draw forth the folded strands,  
Than which the trembling line,  
By whose frail help yon startled spider fled  
Down the tall spear-grass from his swinging bed,  
Is scarce more fine ;  
And as the tangled skein  
Unravels in my hands,  
Betwixt me and the noonday light,  
A veil seems lifted, and for miles and miles  
The landscape broadens on my sight,  
As, in the little boll, there lurked a spell  
Like that which, in the ocean shell,  
With mystic sound,  
Breaks down the narrow walls that hem us round,  
And turns some city lane

Into the restless main,  
With all his capes and isles !

Yonder bird,  
Which floats, as if at rest,  
In those blue tracts above the thunder, where  
No vapors cloud the stainless air,  
And never sound is heard,  
Unless at such rare time  
When, from the City of the Blest,  
Rings down some golden chime,  
Sees not from his high place  
So vast a cirque of summer space  
As widens round me in one mighty field,  
Which, rimmed by seas and sands,  
Doth hail its earliest daylight in the beams  
Of gray Atlantic dawns ;  
And, broad as realms made up of many lands,  
Is lost afar  
Behind the crimson hills and purple lawns  
Of sunset, among plains which roll their streams  
Against the Evening Star !  
And lo !  
To the remotest point of sight,  
Although I gaze upon no waste of snow,  
The endless field is white ;  
And the whole landscape glows,  
For many a shining league away,  
With such accumulated light



As Polar lands would flash beneath a tropic day!  
Nor lack there (for the vision grows,  
And the small charm within my hands —  
More potent even than the fabled one,  
Which oped whatever golden mystery  
Lay hid in fairy wood or magic vale,  
The curious ointment of the Arabian tale —  
Beyond all mortal sense  
Doth stretch my sight's horizon, and I see,  
Beneath its simple influence,  
As if with Uriel's crown,  
I stood in some great temple of the Sun,  
And looked, as Uriel, down!)  
Nor lack there pastures rich and fields all green  
With all the common gifts of God,  
For temperate airs and torrid sheen  
Weave Edens of the sod;  
Through lands which look one sea of billowy gold  
Broad rivers wind their devious ways;  
A hundred isles in their embraces fold  
A hundred luminous bays;  
And through yon purple haze  
Vast mountains lift their plumed peaks cloud-  
crowned;  
And, save where up their sides the ploughman  
creeps,  
An unhewn forest girds them grandly round,  
In whose dark shades a future navy sleeps!  
Ye Stars, which, though unseen, yet with me gaze

Upon this loveliest fragment of the earth !  
Thou Sun, that kindest all thy gentlest rays  
Above it, as to light a favorite hearth !  
Ye Clouds, that in your temples in the West  
See nothing brighter than its humblest flowers !  
And you, ye Winds, that on the ocean's breast  
Are kissed to coolness ere ye reach its bowers !  
Bear witness with me in my song of praise,  
And tell the world that, since the world began,  
No fairer land hath fired a poet's lays,  
Or given a home to man !

But these are charms already widely blown !  
His be the meed whose pencil's trace  
Hath touched our very swamps with grace,  
And round whose tuneful way  
All Southern laurels bloom ;  
The Poet of " The Woodlands," unto whom  
Alike are known  
The flute's low breathing and the trumpet's tone,  
And the soft west wind's sighs ;  
But who shall utter all the debt,  
O Land wherein all powers are met  
That bind a people's heart,  
The world doth owe thee at this day,  
And which it never can repay,  
Yet scarcely deigns to own !  
Where sleeps the poet who shall fitly sing  
The source wheréfrom doth spring

That mighty commerce which, confined  
 To the mean channels of no selfish mart,  
 Goes out to every shore  
 Of this broad earth, and throngs the sea with ships  
 That bear no thunders ; hushes hungry lips  
 In alien lands ;  
 Joins with a delicate web remotest strands ;  
 And gladdening rich and poor,  
 Doth gild Parisian domes,  
 Or feed the cottage-smoke of English homes,  
 And only bounds its blessings by mankind !  
 In offices like these, thy mission lies,  
 My Country ! and it shall not end  
 As long as rain shall fall and Heaven bend  
 In blue above thee ; though thy foes be hard  
 And cruel as their weapons, it shall guard  
 Thy hearth-stones as a bulwark ; make thee great  
 In white and bloodless state ;  
 And haply, as the years increase —  
 Still working through its humbler reach  
 With that large wisdom which the ages teach —  
 Revive the half-dead dream of universal peace !  
 As men who labor in that mine  
 Of Cornwall, hollowed out beneath the bed  
 Of ocean, when a storm rolls overhead,  
 Hear the dull booming of the world of brine  
 Above them, and a mighty muffled roar  
 Of winds and waters, yet toil calmly on,  
 And split the rock, and pile the massive ore,  
 Or carve a niche, or shape the archèd roof ;

So I, as calmly, weave my woof  
Of song, chanting the days to come,  
Unsilenced, though the quiet summer air  
Stirs with the bruit of battles, and each dawn  
Wakes from its starry silence to the hum  
Of many gathering armies. Still,  
In that we sometimes hear,  
Upon the Northern winds, the voice of woe  
Not wholly drowned in triumph, though I know  
The end must crown us, and a few brief years  
Dry all our tears,  
I may not sing too gladly. To Thy will  
Resigned, O Lord ! we cannot all forget  
That there is much even Victory must regret.  
And, therefore, not too long  
From the great burthen of our country's wrong  
Delay our just release !  
And, if it may be, save  
These sacred fields of peace  
From stain of patriot or of hostile blood !  
Oh, help us, Lord ! to roll the crimson flood  
Back on its course, and, while our banners wing  
Northward, strike with us ! till the Goth shall cling  
To his own blasted altar-stones, and crave  
Mercy ; and we shall grant it, and dictate  
The lenient future of his fate  
There, where some rotting ships and crumbling  
quays  
Shall one day mark the Port which ruled the West-  
ern seas.

## PRÆCEPTOR AMAT

It is time (it was time long ago) I should sever  
This chain — why I wear it I know not — forever !  
Yet I cling to the bond, e'en while sick of the mask  
I must wear, as of one whom his commonplace task  
And proof-armor of dullness have steeled to her  
          charms !

Ah ! how lovely she looked as she flung from her  
          arms,

In heaps to this table (now starred with the stains  
Of her booty yet wet with those yesterday rains),  
These roses and lilies, and — what ? let me see !  
Then was off in a moment, but turned with a glee,  
That lit her sweet face as with moonlight, to say,  
As 't was almost too late for a lesson to-day,  
She meant to usurp, for this morning at least,  
My office of Tutor ; and instead of a feast  
Of such mouthfuls as *poluphloisboio thalasses*,  
With which I fed her, I should study the grasses  
(Love-grasses she called them), the buds, and the  
          flowers

Of which I know nothing ; and if “with *my* powers,”  
I did not learn all she could teach in that time,  
And thank her, perhaps, in a sweet English rhyme,  
If I did not do this, and she flung back her hair,  
And shook her bright head with a menacing air,  
She 'd be — oh ! she 'd be — a real Saracen Omar

To a certain much-valued edition of Homer !  
But these flowers ! I believe I could number as  
soon

The shadowy thoughts of a last summer's noon,  
Or recall with their phases, each one after one,  
The clouds that came down to the death of the  
Sun,

Cirrus, Stratus, or Nimbus, some evening last year,  
As unravel the web of one genus ! Why, there,  
As they lie by my desk in that glistening heap,  
All tangled together like dreams in the sleep  
Of a bliss-fevered heart, I might turn them and  
turn

Till night, in a puzzle of pleasure, and learn  
Not a fact, not a secret I prize half so much,  
As, how rough is this leaf when I think of her  
touch.

There's one now blown yonder ! what can be its  
name ?

A topaz wine-colored, the wine in a flame ;  
And another that's hued like the pulp of a melon,  
But sprinkled all o'er as with seed-pearls of Ceylon ;  
And a third ! its white petals just clouded with  
pink !

And a fourth, that blue star ! and then this, too !  
I think

If one brought me this moment an amethyst cup,  
From which, through a liquor of amber, looked up,  
With a glow as of eyes in their elfin-like lustre,

14 POEMS OF HENRY TIMROD

Stones culled from all lands in a sunshiny cluster,  
From the ruby that burns in the sands of Mysore  
To the beryl of Daunia, with gems from the core  
Of the mountains of Persia (I talk like a boy  
In the flush of some new, and yet half-tasted joy);  
But I think if that cup and its jewels together  
Were placed by the side of this child of the weather  
(This one which she touched with her mouth, and  
let slip

From her fingers by chance, as her exquisite lip,  
With a music befitting the language divine,  
Gave the roll of the Greek's multitudinous line),  
I should take — not the gems — but enough! let  
me shut

In the blossom that woke it, my folly, and put  
Both away in my bosom — there, in a heart-niche,  
One shall outlive the other — is 't hard to tell  
which?

In the name of all starry and beautiful things,  
What is it? the cross in the centre, these rings,  
And the petals that shoot in an intricate maze,  
From the disk which is lilac — or purple? like rays  
In a blue Aureole!

And so now will she wot,  
When I sit by her side with my brows in a knot,  
And praise her so calmly, or chide her perhaps,  
If her voice falter once in its musical lapse,  
As I've done, I confess, just to gaze at a flush

In the white of her throat, or to watch the quick  
rush  
Of the tear she sheds smiling, as, drooping her  
curls  
O'er that book I keep shrined like a casket of  
pearls,  
She reads on in low tones of such tremulous sweet-  
ness,  
That (in spite of some faults) I am forced, in dis-  
creetness,  
To silence, lest mine, growing hoarse, should betray  
What I must not reveal — will she guess now, I  
say,  
How, for all his grave looks, the stern, passionless  
Tutor,  
With more than the love of her youthfulest suitor,  
Is hiding somewhere in the shroud of his vest,  
By a heart that is beating wild wings in its nest,  
This flower, thrown aside in the sport of a minute,  
And which he holds dear as though folded within it  
Lay the germ of the bliss that he dreams of! Ah,  
me!  
It is hard to love thus, yet to seem and to be  
A thing for indifference, faint praise, or cold blame,  
When you long (by the right of deep passion, the  
claim,  
On the loved of the loving, at least to be heard)  
To take the white hand, and with glance, touch,  
and word,



Burn your way to the heart ! That her step on the  
 stair ?  
 Be still thou fond flutterer !

How little I care  
 For your favorites, see ! they are all of them, look !  
 On the spot where they fell, and — but here is your  
 book !

### THE PROBLEM

NOT to win thy favor, maiden, not to steal away thy  
 heart,  
 Have I ever sought thy presence, ever stooped to  
 any art ;  
 Thou wast but a wildering problem, which I aimed  
 to solve, and then  
 Make it matter for my note-book, or a picture for  
 my pen.  
 So, I daily conned thee over, thinking it no danger-  
 ous task,  
 Peeping underneath thy lashes, peering underneath  
 thy mask —  
 For thou wear'st one — no denial ! there is much  
 within thine eyes ;  
 But those stars have other secrets than are patent  
 in their skies.  
 And I read thee, read thee closely, every grace and  
 every sin,

Looked behind the outward seeming to the strange  
wild world within,  
Where thy future self is forming, where I saw —  
no matter what !  
There was something less than angel, there was  
many an earthly spot ;  
Yet so beautiful thy errors that I had no heart for  
blame,  
And thy virtues made thee dearer than my dearest  
hopes of fame ;  
All so blended, that in wishing one peculiar trait  
removed,  
We indeed might make thee better, but less lovely  
and less loved.  
All my mind was in the study — so two thrilling  
fortnights passed —  
All my mind was in the study — till my heart was  
touched at last.  
Well ! and then the book was finished, the absorb-  
ing task was done,  
I awoke as one who had been dreaming in a noon-  
day sun ;  
With a fever on my forehead, and a throbbing in  
my brain,  
In my soul delirious wishes, in my heart a lasting  
pain ;  
Yet so hopeless, yet so cureless — as in every great  
despair —  
I was very calm and silent, and I never stooped to  
prayer,

Like a sick man unattended, reckless of the coming  
death,

Only for he knows it certain, and he feels no sis-  
ter's breath.

All the while as by an At , with no pity in her face,  
Yet with eyes of witching beauty, and with form of  
matchless grace,

I was haunted by thy presence, oh! for weary  
nights and days,

I was haunted by thy spirit, I was troubled by thy  
gaze,

And the question which to answer I had taxed a  
subtle brain,

What thou art, and what thou wilt be, came again  
and yet again ;

With its opposite deductions, it recurred a thou-  
sand times,

Like a coward's apprehensions, like a madman's  
favorite rhymes.

But to-night my thoughts flow calmer — in thy room  
I think I stand,

See a fair white page before thee, and a pen within  
thy hand ;

And thy fingers sweep the paper, and a light is in  
thine eyes,

Whilst I read thy secret fancies, whilst I hear thy  
secret sighs.

What they are I will not whisper, those are lovely,  
these are deep,

But one name is left unwritten, that is only breathed  
in sleep.  
Is it wonder that my passion bursts at once from  
out its nest ?  
I have bent my knee before thee, and my love is all  
confessed ;  
Though I knew that name unwritten was another  
name than mine,  
Though I felt those sighs half murmured what I  
could but half divine.  
Aye ! I hear thy haughty answer ! Aye ! I see thy  
proud lip curl !  
“What presumption, and what folly !” why, I only  
love a girl  
With some very winning graces, with some very  
noble traits,  
But no better than a thousand who have bent to  
humbler fates.  
That I ask not ; I have, maiden, just as haught a  
soul as thine ;  
If thou think'st thy place above me, thou shalt  
never stoop to mine.  
Yet as long as blood runs redly, yet as long as  
mental worth  
Is a nobler gift than fortune, is a holier thing than  
birth,  
I will claim the right to utter, to the high and to  
the low,  
That I love them, or I hate them, that I am a  
friend or foe.

Nor shall any slight unman me ; I have yet some  
    little strength,  
Yet my song shall sound as sweetly, yet a power be  
    mine at length !  
Then, oh, then ! but moans are idle — hear me,  
    pitying saints above !  
With a chaplet on my forehead, I will justify my love.  
And perhaps when thou art leaning on some less  
    devoted breast,  
Thou shalt murmur, “ He was worthier than my  
    blinded spirit guessed.”

#### A YEAR'S COURTSHIP

I saw her, Harry, first, in March —  
    You know the street that leadeth down  
By the old bridge's crumbling arch ? —  
    Just where it leaves the dusty town  
  
A lonely house stands grim and dark —  
    You 've seen it ? then I need not say.  
How quaint the place is — did you mark  
    An ivied window ? Well ! one day,  
  
I, chasing some forgotten dream,  
    And in a poet's idlest mood,  
Caught, as I passed, a white hand's gleam —  
    A shutter opened — there she stood

Training the ivy to its prop.

Two dark eyes and a brow of snow  
Flashed down upon me — did I stop? —  
She says I did — I do not know.

But all that day did something glow  
Just where the heart beats ; frail and slight,  
A germ had slipped its shell, and now  
Was pushing softly for the light.

And April saw me at her feet,  
Dear month of sunshine and of rain !  
My very fears were sometimes sweet,  
And hope was often touched with pain.

For she was frank, and she was coy,  
A willful April in her ways ;  
And in a dream of doubtful joy  
I passed some truly April days.

May came, and on that arch, sweet mouth,  
The smile was graver in its play,  
And, softening with the softening South,  
My April melted into May.

She loved me, yet my heart would doubt,  
And ere I spoke the month was June —  
One warm still night we wandered out  
To watch a slowly setting moon.

Something which I saw not — my eyes  
Were not on heaven — a star, perchance,  
Or some bright drapery of the skies,  
Had caught her earnest, upper glance.

And as she paused — Hal! we have played  
Upon the very spot — a fir  
Just touched me with its dreamy shade,  
But the full moonlight fell on her —

And as she paused — I know not why —  
I longed to speak, yet could not speak;  
The bashful are the boldest — I —  
I stooped and gently kissed her cheek.

A murmur (else some fragrant air  
Stirred softly) and the faintest start —  
O Hal! we were the happiest pair!  
O Hal! I clasped her heart to heart!

And kissed away some tears that gushed;  
But how she trembled, timid dove,  
When my soul broke its silence, flushed  
With a whole burning June of love.

Since then a happy year hath sped  
Through months that seemed all June and May,  
And soon a March sun, overhead,  
Will usher in the crowning day.

### SERENADE

23

Twelve blessed moons that seemed to glow  
All summer, Hal! — my peerless Kate!  
She is the dearest — “Angel?” — no!  
Thank God! — but you shall see her — wait.

So all is told! I count on thee  
To see the Priest, Hal! Pass the wine!  
Here's to my darling wife to be!  
And here's to — when thou find'st her — thine!

### SERENADE

HIDE, happy damask, from the stars,  
What sleep enfolds behind your veil,  
But open to the fairy cars  
On which the dreams of midnight sail;  
And let the zephyrs rise and fall  
About her in the curtained gloom,  
And then return to tell me all  
The silken secrets of the room.

Ah, dearest! may the elves that sway  
Thy fancies come from emerald plots,  
Where they have dozed and dreamed all day  
In hearts of blue forget-me-nots.  
And one perhaps shall whisper thus:  
Awake! and light the darkness, Sweet!  
While thou art reveling with us,  
He watches in the lonely street.



## YOUTH AND MANHOOD

ANOTHER year ! a short one, if it flow  
Like that just past,  
And I shall stand — if years can make me so —  
A man at last.

Yet, while the hours permit me, I would pause  
And contemplate  
The lot whereto unalterable laws  
Have bound my fate.

Yet, from the starry regions of my youth,  
The empyreal height  
Where dreams are happiness, and feeling truth,  
And life delight —

From that ethereal and serene abode  
My soul would gaze  
Downward upon the wide and winding road,  
Where manhood plays ;

Plays with the baubles and the gauds of earth —  
Wealth, power, and fame —  
Nor knows that in the twelvemonth after birth  
He did the same.

Where the descent begins, through long defiles  
I see them wind ;

And some are looking down with hopeful smiles,  
And some are — blind.

And farther on a gay and glorious green  
Dazzles the sight,  
While noble forms are moving o'er the scene,  
Like things of light.

Towers, temples, domes of perfect symmetry  
Rise broad and high,  
With pinnacles among the clouds ; ah, me !  
None touch the sky.

None pierce the pure and lofty atmosphere  
Which I breathe now,  
And the strong spirits that inhabit there,  
Live — God sees how.

Sick of the very treasure which they heap ;  
Their tearless eyes  
Sealed ever in a heaven-forgetting sleep,  
Whose dreams are lies ;

And so, a motley, unattractive throng,  
They toil and plod,  
Dead to the holy ecstasies of song,  
To love, and God.

Dear God ! if that I may not keep through life  
My trust, my truth,

And that I must, in yonder endless strife,  
Lose faith with youth ;

If the same toil which indurates the hand  
Must steel the heart,  
Till, in the wonders of the ideal land,  
It have no part ;

Oh ! take me hence ! I would no longer stay  
Beneath the sky ;  
Give me to chant one pure and deathless lay,  
And let me die !

#### HARK TO THE SHOUTING WIND

HARK to the shouting Wind !  
Hark to the flying Rain !  
And I care not though I never see  
A bright blue sky again.

There are thoughts in my breast to-day  
That are not for human speech ;  
But I hear them in the driving storm,  
And the roar upon the beach.

And oh, to be with that ship  
That I watch through the blinding brine !  
O Wind ! for thy sweep of land and sea !  
O Sea ! for a voice like thine !

TOO LONG, O SPIRIT OF STORM 27

Shout on, thou pitiless Wind,  
To the frightened and flying Rain!  
I care not though I never see  
A calm blue sky again.

TOO LONG, O SPIRIT OF STORM

Too long, O Spirit of Storm,  
Thy lightning sleeps in its sheath!  
I am sick to the soul of yon pallid sky,  
And the moveless sea beneath.

Come down in thy strength on the deep!  
Worse dangers there are in life,  
When the waves are still, and the skies look fair,  
Than in their wildest strife.

A friend I knew, whose days  
Were as calm as this sky overhead;  
But one blue morn that was fairest of all,  
The heart in his bosom fell dead.

And they thought him alive while he walked  
The streets that he walked in youth —  
Ah! little they guessed the seeming man  
Was a soulless corpse in sooth.

Come down in thy strength, O Storm!  
And lash the deep till it raves!

I am sick to the soul of that quiet sea,  
Which hides ten thousand graves.

### THE LILY CONFIDANTE

LILY ! lady of the garden !  
Let me press my lip to thine !  
Love must tell its story, Lily !  
Listen thou to mine.

Two I choose to know the secret —  
Thee, and yonder wordless flute ;  
Dragons watch me, tender Lily,  
And thou must be mute.

There 's a maiden, and her name is . . .  
Hist ! was that a rose-leaf fell ?  
See, the rose is listening, Lily,  
And the rose may tell.

Lily-browed and lily-hearted,  
She is very dear to me ;  
Lovely ? yes, if being lovely  
Is — resembling thee.

Six to half a score of summers  
Make the sweetest of the "teens" —  
Not too young to guess, dear Lily,  
What a lover means.

Laughing girl, and thoughtful woman,  
I am puzzled how to woo —  
Shall I praise, or pique her, Lily?  
Tell me what to do.

“Silly lover, if thy Lily  
Like her sister lilies be,  
Thou must woo, if thou wouldst wear her,  
With a simple plea.

“Love’s the lover’s only magic,  
Truth the very subtlest art ;  
Love that feigns, and lips that flatter,  
Win no modest heart.

“Like the dewdrop in my bosom,  
Be thy guileless language, youth ;  
Falsehood buyeth falsehood only,  
Truth must purchase truth.

“As thou talkest at the fireside,  
With the little children by —  
As thou prayest in the darkness,  
When thy God is nigh —

“With a speech as chaste and gentle,  
And such meanings as become  
Ear of child, or ear of angel,  
Speak, or be thou dumb.

“Woo her thus, and she shall give thee  
Of her heart the sinless whole,  
All the girl within her bosom,  
And her woman’s soul.”

THE STREAM IS FLOWING FROM THE  
WEST

THE stream is flowing from the west ;  
As if it poured from yonder skies,  
It wears upon its rippling breast  
The sunset’s golden dyes ;  
And bearing onward to the sea,  
’T will clasp the isle that holdeth thee.

I dip my hand within the wave ;  
Ah ! how impressionless and cold !  
I touch it with my lip, and lave  
My forehead in the gold.  
It is a trivial thought, but sweet,  
Perhaps the wave will kiss thy feet.

Alas ! I leave no trace behind —  
As little on the senseless stream  
As on thy heart, or on thy mind ;  
Which was the simpler dream,  
To win that warm, wild love of thine,  
Or make the water whisper mine ?

Dear stream! some moons must wax and wane  
 Ere I again shall cross thy tide,  
 And then, perhaps, a viewless chain  
 Will drag me to her side,  
 To love with all my spirit's scope,  
 To wish, do everything but — hope.

## VOX ET PRÆTEREA NIHIL

I've been haunted all night, I've been haunted all  
 day,  
 By the ghost of a song, by the shade of a lay,  
 That with meaningless words and profusion of  
 rhyme,  
 To a dreamy and musical rhythm keeps time.  
 A simple, but still a most magical strain,  
 Its dim monotones have bewildered my brain  
 With a specious and cunning appearance of thought,  
 I seem to be catching but never have caught.

I know it embodies some very sweet things,  
 And can almost divine the low burden it sings;  
 But again, and again, and still ever again,  
 It has died on my ear at the touch of my pen.  
 And so it keeps courting and shunning my quest,  
 As a bird that has just been aroused from her nest,  
 Too fond to depart, and too frightened to stay,  
 Now circles about you, now flutters away.



Oh! give me fit words for that exquisite song,  
 And thou couldst not, proud beauty! be obdurate  
     long;  
 It would come like the voice of a saint from above,  
 And win thee to kindness, and melt thee to love.  
 Not gilded with fancy, nor frigid with art,  
 But simple as feeling, and warm as the heart,  
 It would murmur my name with so charming a tone,  
 As would almost persuade thee to wish it thine own.

## MADELINE

O LADY! if, until this hour,  
     I've gazed in those bewildering eyes,  
 Yet never owned their touching power,  
     But when thou couldst not hear my sighs;  
 It has not been that love has slept  
     One single moment in my soul,  
 Or that on lip or look I kept  
     A stern and stoical control;  
 But that I saw, but that I felt,  
     In every tone and glance of thine,  
 Whate'er they spoke, where'er they dwelt,  
     How small, how poor a part was mine;  
 And that I deeply, dearly knew,  
     *That* hidden, hopeless love confessed,  
 The fatal words would lose me, too,  
     Even the weak friendship I possessed.

And so, I masked my secret well ;  
The very love within my breast  
Became the strange, but potent spell  
By which I forced it into rest.  
Yet there were times — I scarce know how  
These eager lips refrained to speak, —  
Some kindly smile would light thy brow,  
And I grew passionate and weak ;  
The secret sparkled at my eyes,  
And love but half repressed its sighs, —  
Then had I gazed an instant more,  
Or dwelt one moment on that brow,  
I might have changed the smile it wore,  
To what perhaps it weareth now,  
And spite of all I feared to meet,  
Confessed that passion at thy feet.  
To save my heart, to spare thine own,  
There was one remedy alone.  
I fled, I shunned thy very touch, —  
It cost me much, O God ! how much !  
But if some burning tears were shed,  
Lady ! I let them freely flow ;  
At least, they left unbreathed, unsaid,  
A worse and wilder woe.

But now, — *now* that we part indeed,  
And that I may not think as then,  
That as I wish, or as I need,  
I may return again, —

Now that for months, perhaps for years —  
I see no limit in my fears —  
My home shall be some distant spot,  
Where thou — where even thy name is not,  
And since I shall not see the frown,  
Such wild, mad language must bring down,  
Could I — albeit I may not sue  
In hope to bend thy steadfast will —  
Could I have breathed this word, adieu,  
And kept my secret still?

Doubtless thou know'st the Hebrew story —  
The tale 's with me a favorite one —  
How Raphael left the Courts of Glory,  
And walked with Judah's honored Son;  
And how the twain together dwelt,  
And how they talked upon the road,  
How often too they must have knelt  
As equals to the same kind God;  
And still the mortal never guessed,  
How much and deeply he was blessed,  
Till when — the Angel's mission done —  
The spell which drew him earthwards, riven —  
The lover saved — the maiden won —  
He plumed again his wings for Heaven;  
O Madeline! as unaware  
Thou hast been followed everywhere,  
And girt and guarded by a love,  
As warm, as tender in its care,

As pure, ay, powerful in prayer,  
As any saint above !  
Like the bright inmate of the skies,  
It only looked with friendly eyes,  
And still had worn the illusive guise,  
And thus at least been half concealed ;  
But at this parting, painful hour,  
It spreads its wings, unfolds its power,  
And stands, like Raphael, revealed.

More, Lady ! I would wish to speak, —  
But it were vain, and words are weak,  
And now that I have bared my breast,  
Perchance thou wilt infer the rest.  
So, so, farewell ! I need not say  
I look, I ask for no reply,  
The cold and scarcely pitying “ nay ”  
I read in that unmelted eye ;  
Yet one dear favor, let me pray !  
Days, months, however slow to me,  
Must drag at last their length away,  
And I return — if not to thee —  
At least to breathe the same sweet air  
That wooes thy lips and waves thy hair.  
Oh, then ! — these daring lines forgot —  
Look, speak, as thou hadst read them not.  
So, Lady, may I still retain  
A right I would not lose again,  
For all that gold or guilt can buy,  
Or all that Heaven itself deny,

A right such love may justly claim,  
Of seeing thee in friendship's name.  
Give me but this, and still at whiles,  
A portion of thy faintest smiles,  
It were enough to bless ;  
I may not, dare not ask for more  
Than boon so rich, and yet so poor,  
But I should die with less.

## A DEDICATION

TO K. S. G.

FAIR Saxon, in my lover's creed,  
My love were smaller than your meed,  
And you might justly deem it slight,  
As wanting truth as well as sight,  
If, in that image which is shrined  
Where thoughts are sacred, you could find  
A single charm, or more or less,  
Than you to all kind eyes possess.  
To me, even in the happiest dreams,  
Where, flushed with love's just dawning gleams,  
My hopes their radiant wings unfurl,  
You're but a simple English girl,  
No fairer, grace for grace arrayed,  
Than many a simple Southern maid ;  
With faults enough to make the good  
Seem sweeter far than else it would ;

Frank in your anger and your glee,  
And true as English natures be,  
Yet not without some maiden art  
Which hides a loving English heart.  
Still there are moments, brief and bright,  
When fancy, by a poet's light,  
Beholds you clothed with loftier charms  
Than love e'er gave to mortal arms.  
A spell is woven on the air  
From your brown eyes and golden hair,  
And all at once you seem to stand  
Before me as your native land,  
With all her greatness in your guise,  
And all her glory in your eyes ;  
And sometimes, as if angels sung,  
I hear her poets on your tongue.  
And, therefore, I, who from a boy  
Have felt an almost English joy  
In England's undecaying might,  
And England's love of truth and right,  
Next to my own young country's fame  
Holding her honor and her name,  
I — who, though born where not a vale  
Hath ever nursed a nightingale,  
Have fed my muse with English song  
Until her feeble wing grew strong —  
Feel, while with all the reverence meet  
I lay this volume at your feet,  
As if through your dear self I pay,  
For many a deep and deathless lay,

For noble lessons nobly taught,  
For tears, for laughter, and for thought,  
A portion of the mighty debt  
We owe to Shakespeare's England yet!

## KATIE

It may be through some foreign grace,  
And unfamiliar charm of face ;  
It may be that across the foam  
Which bore her from her childhood's home,  
By some strange spell, my Katie brought,  
Along with English creeds and thought —  
Entangled in her golden hair —  
Some English sunshine, warmth, and air !  
I cannot tell — but here to-day,  
A thousand billowy leagues away  
From that green isle whose twilight skies  
No darker are than Katie's eyes,  
She seems to me, go where she will,  
An English girl in England still !

I meet her on the dusty street,  
And daisies spring about her feet ;  
Or, touched to life beneath her tread,  
An English cowslip lifts its head ;  
And, as to do her grace, rise up  
The primrose and the buttercup !

I roam with her through fields of cane,  
And seem to stroll an English lane,  
Which, white with blossoms of the May,  
Spreads its green carpet in her way!  
As fancy wills, the path beneath  
Is golden gorse, or purple heath:  
And now we hear in woodlands dim  
Their unarticulated hymn,  
Now walk through rippling waves of wheat,  
Now sink in mats of clover sweet,  
Or see before us from the lawn  
The lark go up to greet the dawn!  
All birds that love the English sky  
Throng round my path when she is by:  
The blackbird from a neighboring thorn  
With music brims the cup of morn,  
And in a thick, melodious rain  
The mavis pours her mellow strain!  
But only when my Katie's voice  
Makes all the listening woods rejoice  
I hear — with cheeks that flush and pale —  
The passion of the nightingale!

Anon the pictures round her change,  
And through an ancient town we range,  
Whereto the shadowy memory clings  
Of one of England's Saxon kings,  
And which to shrine his fading fame  
Still keeps his ashes and his name.



Quaint houses rise on either hand,  
But still the airs are fresh and bland,  
As if their gentle wings caressed  
Some new-born village of the West.  
A moment by the Norman tower  
We pause ; it is the Sabbath hour !  
And o'er the city sinks and swells  
The chime of old St. Mary's bells,  
Which still resound in Katie's ears  
As sweet as when in distant years  
She heard them peal with jocund din  
A merry English Christmas in !  
We pass the abbey's ruined arch,  
And statelier grows my Katie's march,  
As round her, wearied with the taint  
Of Transatlantic pine and paint,  
She sees a thousand tokens cast  
Of England's venerable Past !  
Our reverent footsteps lastly claims  
The younger chapel of St. James,  
Which, though, as English records run,  
Not old, had seen full many a sun,  
Ere to the cold December gale  
The thoughtful Pilgrim spread his sail.  
There Katie in her childish days  
Spelt out her prayers and lisped her praise,  
And doubtless, as her beauty grew,  
Did much as other maidens do —  
Across the pews and down the aisle  
Sent many a beau-bewildering smile,

And to subserve her spirit's need  
Learned other things beside the creed !  
There, too, to-day her knee she bows,  
And by her one whose darker brows  
Betray the Southern heart that burns  
Beside her, and which only turns  
Its thoughts to Heaven in one request,  
Not all unworthy to be blest,  
But rising from an earthlier pain  
Than might beseem a Christian fane.  
Ah ! can the guileless maiden share  
The wish that lifts that passionate prayer ?  
Is all at peace that breast within ?  
Good angels ! warn her of the sin !  
Alas ! what boots it ? who can save  
A willing victim of the wave ?  
Who cleanse a soul that loves its guilt ?  
Or gather wine when wine is spilt ?

We quit the holy house and gain  
The open air ; then, happy twain,  
Adown familiar streets we go,  
And now and then she turns to show,  
With fears that all is changing fast,  
Some spot that 's sacred to her Past.  
Here by this way, through shadows cool,  
A little maid, she tripped to school ;  
And there each morning used to stop  
Before a wonder of a shop

Where, built of apples and of pears,  
Rose pyramids of golden spheres ;  
While, dangling in her dazzled sight,  
Ripe cherries cast a crimson light,  
And made her think of elfin lamps,  
And feast and sport in fairy camps,  
Whereat, upon her royal throne  
(Most richly carved in cherry-stone),  
Titania ruled, in queenly state,  
The boisterous revels of the fête !  
'T was yonder, with their "horrid" noise,  
Dismissed from books, she met the boys,  
Who, with a barbarous scorn of girls,  
Glanced slightly at her sunny curls,  
And laughed and leaped as reckless by  
As though no pretty face were nigh !  
But — here the maiden grows demure —  
Indeed she 's not so *very* sure,  
That in a year, or haply twain,  
Who looked e'er failed to look again,  
And sooth to say, I little doubt  
(Some azure day, the truth will out !)  
That certain baits in certain eyes  
Caught many an unsuspecting prize ;  
And somewhere underneath these eaves  
A budding flirt put forth its leaves !

Has not the sky a deeper blue,  
Have not the trees a greener hue,

And bend they not with lordlier grace  
And nobler shapes above the place  
Where on one cloudless winter morn  
My Katie to this life was born?  
Ah, folly! long hath fled the hour  
When love to sight gave keener power,  
And lovers looked for special boons  
In brighter flowers and larger moons.  
But wave the foliage as it may,  
And let the sky be ashen gray,  
Thus much at least a manly youth  
May hold — and yet not blush — as truth:  
If near that blessed spot of earth  
Which saw the cherished maiden's birth  
No softer dews than usual rise,  
And life there keeps its wonted guise,  
Yet not the less that spot may seem  
As lovely as a poet's dream;  
And should a fervid faith incline  
To make thereof a sainted shrine,  
Who may deny that round us throng  
A hundred earthly creeds as wrong,  
But meaner far, which yet unblamed  
Stalk by us and are not ashamed?  
So, therefore, Katie, as our stroll  
Ends at this portal, while you roll  
Those lustrous eyes to catch each ray  
That may recall some vanished day,  
I — let them jeer and laugh who will —  
Stoop down and kiss the sacred sill!

So strongly sometimes on the sense  
These fancies hold their influence,  
That in long well-known streets I stray  
Like one who fears to lose his way.  
The stranger, I, the native, she,  
Myself, not Kate, had crossed the sea;  
And changing place, and mixing times,  
I walk in unfamiliar climes !  
These houses, free to every breeze  
That blows from warm Floridian seas,  
Assume a massive English air,  
And close around an English square ;  
While, if I issue from the town,  
An English hill looks greenly down,  
Or round me rolls an English park,  
And in the Broad I hear the Larke !  
Thus when, where woodland violets hide,  
I rove with Katie at my side,  
It scarce would seem amiss to say :  
" Katie ! my home lies far away,  
Beyond the pathless waste of brine,  
In a young land of palm and pine !  
There, by the tropic heats, the soul  
Is touched as if with living coal,  
And glows with such a fire as none  
Can feel beneath a Northern sun,  
Unless — my Katie's heart attest ! —  
'T is kindled in an English breast !

Such is the land in which I live,  
And, Katie ! such the soul I give.  
Come ! ere another morning beam,  
We 'll cleave the sea with wings of steam ;  
And soon, despite of storm or calm,  
Beneath my native groves of palm,  
Kind friends shall greet, with joy and pride,  
The Southron and his English bride ! ”

## WHY SILENT

WHY am I silent from year to year ?  
Needs must I sing on these blue March days ?  
What will you say, when I tell you here,  
That already, I think, for a little praise,  
I have paid too dear ?

For, I know not why, when I tell my thought,  
It seems as though I fling it away ;  
And the charm wherewith a fancy is fraught,  
When secret, dies with the fleeting lay  
Into which it is wrought.

So my butterfly-dreams their golden wings  
But seldom unfurl from their chrysalis ;  
And thus I retain my loveliest things,  
While the world, in its worldliness, does not miss  
What a poet sings.

## TWO PORTRAITS

## I

You say, as one who shapes a life,  
That you will never be a wife,

And, laughing lightly, ask my aid  
To paint your future as a maid.

This is the portrait ; and I take  
The softest colors for your sake :

The springtime of your soul is dead,  
And forty years have bent your head ;

The lines are firmer round your mouth,  
But still its smile is like the South.

Your eyes, grown deeper, are not sad,  
Yet never more than gravely glad ;

And the old charm still lurks within  
The cloven dimple of your chin.

Some share, perhaps, of youthful gloss  
Your cheek hath shed ; but still across

The delicate ear are folded down  
Those silken locks of chestnut brown ;

Though here and there a thread of gray  
Steals through them like a lunar ray.

One might suppose your life had passed  
Unvexed by any troubling blast ;

And such — for all that I foreknow —  
May be the truth ! The deeper woe !

A loveless heart is seldom stirred ;  
And sorrow shuns the mateless bird ;

But ah ! through cares alone we reach  
The happiness which mocketh speech ;

In the white courts beyond the stars  
The noblest brow is seamed with scars ;

And they on earth who 've wept the most  
Sit highest of the heavenly host.

Grant that your maiden life hath sped  
In music o'er a golden bed,

With rocks, and winds, and storms at truce,  
And not without a noble use ;

Yet are you happy ? In your air  
I see a nameless want appear,



And a faint shadow on your cheek  
Tells what the lips refuse to speak.

You have had all a maid could hope  
In the most cloudless horoscope :

The strength that cometh from above ;  
A Christian mother's holy love ;

And always at your soul's demand  
A brother's, sister's heart and hand.

Small need your heart hath had to roam  
Beyond the circle of your home ;

And yet upon your wish attends  
A loving throng of genial friends.

What, in a lot so sweet as this,  
Is wanting to complete your bliss ?

And to what secret shall I trace  
The clouds that sometimes cross your face,

And that sad look which now and then  
Comes, disappears, and comes again,

And dies reluctantly away  
In those clear eyes of azure gray?

At best, and after all, the place  
You fill with such a serious grace,

Hath much to try a woman's heart,  
And you but play a painful part.

The world around, with little ruth,  
Still laughs at maids who have not youth,

And, right or wrong, the old maid rests  
The victim of its paltry jests,

And still is doomed to meet and bear  
Its pitying smile or furtive sneer.

These are indeed but petty things,  
And yet they touch some hearts like stings.

But I acquit you of the shame  
Of being unresisting game ;

For you are of such tempered clay  
As turns far stronger shafts away,

And all that foes or fools could guide  
Would only curl that lip of pride.

How then, O weary one ! explain  
The sources of that hidden pain ?

Alas! you have divined at length  
How little you have used your strength,

Which, with who knows what human good,  
Lies buried in that maidenhood,

Where, as amid a field of flowers,  
You have but played with April showers.

Ah! we would wish the world less fair,  
If Spring alone adorned the year,

And Autumn came not with its fruit,  
And Autumn hymns were ever mute.

So I remark without surprise  
That, as the unvarying season flies,

From day to night and night to day,  
You sicken of your endless May.

In this poor life we may not cross  
One virtuous instinct without loss,

And the soul grows not to its height  
Till love calls forth its utmost might.

Not blind to all you might have been,  
And with some consciousness of sin —

Because with love you sometimes played,  
And choice, not fate, hath kept you maid —

You feel that you must pass from earth  
But half-acquainted with its worth,

And that within your heart are deeps  
In which a nobler woman sleeps ;

That not the maiden, but the wife  
Grasps the whole lesson of a life,

While such as you but sit and dream  
Along the surface of its stream.

And doubtless sometimes, all unsought,  
There comes upon your hour of thought,

Despite the struggles of your will,  
A sense of something absent still ;

And then you cannot help but yearn  
To love and be beloved in turn,

As they are loved, and love, who live  
As love were all that life could give ;

And in a transient clasp or kiss  
Crowd an eternity of bliss ;

They who of every mortal joy  
Taste always twice, nor feel them cloy,

Or, if woes come, in Sorrow's hour  
Are strengthened by a double power.

## II

Here ends my feeble sketch of what  
Might, but will never be your lot ;

And I foresee how oft these rhymes  
Shall make you smile in after-times.

If I have read your nature right,  
It only waits a spark of light ;

And when that comes, as come it must,  
It will not fall on arid dust,

Nor yet on that which breaks to flame  
In the first blush of maiden shame ;

But on a heart which, even at rest,  
Is warmer than an April nest,

Where, settling soft, that spark shall creep  
About as gently as a sleep ;

Still stealing on with pace so slow  
Yourself will scarcely feel the glow,

Till after many and many a day,  
Although no gleam its course betray,

It shall attain the inmost shrine,  
And wrap it in a fire divine !

I know not when or whence indeed  
Shall fall and burst the burning seed,

But oh ! once kindled, it will blaze,  
I know, forever ! By its rays

You will perceive, with subtler eyes,  
The meaning in the earth and skies,

Which, with their animated chain  
Of grass and flowers, and sun and rain,

Of green below, and blue above,  
Are but a type of married love.

You will perceive that in the breast  
The germs of many virtues rest,

Which, ere they feel a lover's breath,  
Lie in a temporary death ;

And till the heart is wooed and won  
It is an earth without a sun.

## III

But now, stand forth as sweet as life!  
And let me paint you as a wife.

I note some changes in your face,  
And in your mien a graver grace ;

Yet the calm forehead lightly bears  
Its weight of twice a score of years ;

And that one love which on this earth  
Can wake the heart to all its worth,

And to their height can lift and bind  
The powers of soul, and sense, and mind,

Hath not allowed a charm to fade —  
And the wife 's lovelier than the maid.

An air of still, though bright repose  
Tells that a tender hand bestows

All that a generous manhood may  
To make your life one bridal day,

While the kind eyes betray no less,  
In their blue depths of tenderness,

That you have learned the truths which lie  
Behind that holy mystery,

Which, with its blisses and its woes,  
Nor man nor maiden ever knows.

If now, as to the eyes of one  
Whose glance not even thought can shun,

Your soul lay open to my view,  
I, looking all its nature through,

Could see no incompleted part,  
For the whole woman warms your heart.

I cannot tell how many dead  
You number in the cycles fled,

And you but look the more serene  
For all the griefs you may have seen,

As you had gathered from the dust  
The flowers of Peace, and Hope, and Trust.

Your smile is even sweeter now  
Than when it lit your maiden brow,



And that which wakes this gentler charm  
Coos at this moment on your arm.

Your voice was always soft in youth,  
And had the very sound of truth,

But never were its tones so mild  
Until you blessed your earliest child ;

And when to soothe some little wrong  
It melts into a mother's song,

The same strange sweetness which in years  
Long vanished filled the eyes with tears,

And (even when mirthful) gave always  
A pathos to your girlish lays,

Falls, with perchance a deeper thrill,  
Upon the breathless listener still.

I cannot guess in what fair spot  
The chance of Time hath fixed your lot,

Nor can I name what manly breast  
Gives to that head a welcome rest ;

I cannot tell if partial Fate  
Hath made you poor, or rich, or great ;

But oh ! whatever be your place,  
I never saw a form or face

To which more plainly hath been lent  
The blessing of a full content !

## LA BELLE JUIVE

Is it because your sable hair  
Is folded over brows that wear  
At times a too imperial air ;

Or is it that the thoughts which rise  
In those dark orbs do seek disguise  
Beneath the lids of Eastern eyes ;

That choose whatever pose or place  
May chance to please, in you I trace  
The noblest woman of your race ?

The crowd is sauntering at its ease,  
And humming like a hive of bees —  
You take your seat and touch the keys :

I do not hear the giddy throng ;  
The sea avenges Israel's wrong,  
And on the wind floats Miriam's song !

You join me with a stately grace ;  
Music to Poesy gives place ;  
Some grand emotion lights your face :

At once I stand by Mizpeh's walls :  
With smiles the martyred daughter falls,  
And desolate are Mizpeh's halls !

Intrusive babblers come between ;  
With calm, pale brow and lofty mien,  
You thread the circle like a queen !

Then sweeps the royal Esther by ;  
The deep devotion in her eye  
Is looking " If I die, I die ! "

You stroll the garden's flowery walks ;  
The plants to me are grainless stalks,  
And Ruth to old Naomi talks.

Adopted child of Judah's creed,  
Like Judah's daughters, true at need,  
I see you mid the alien seed.

I watch afar the gleaner sweet ;  
I wake like Boaz in the wheat,  
And find you lying at my feet !

My feet! Oh! if the spell that lures  
My heart through all these dreams endures,  
How soon shall I be stretched at yours!

## AN EXOTIC

Nor in a climate near the sun  
Did the cloud with its trailing fringes float,  
Whence, white as the down of an angel's plume,  
Fell the snow of her brow and throat.

And the ground had been rich for a thousand years  
With the blood of heroes, and sages, and kings,  
Where the rose that blooms in her exquisite cheek  
Unfolded the flush of its wings.

On a land where the faces are fair, though pale  
As a moonlit mist when the winds are still,  
She breaks like a morning in Paradise  
Through the palms of an orient hill.

Her beauty, perhaps, were all too bright,  
But about her there broods some delicate spell,  
Whence the wondrous charm of the girl grows soft  
As the light in an English dell.

There is not a story of faith and truth  
On the starry scroll of her country's fame,

But has helped to shape her stately mien,  
And to touch her soul with flame.

I sometimes forget, as she sweeps me a bow,  
That I gaze on a simple English maid,  
And I bend my head, as if to a queen  
Who is courting my lance and blade.

Once, as we read, in a curtained niche,  
A poet who sang of her sea-throned isle,  
There was something of Albion's mighty Bess  
In the flash of her haughty smile.

She seemed to gather from every age  
All the greatness of England about her there,  
And my fancy wove a royal crown  
Of the dusky gold of her hair.

But it was no queen to whom that day,  
In the dim green shade of a trellised vine,  
I whispered a hope that had somewhat to do  
With a small white hand in mine.

The Tudor had vanished, and, as I spoke,  
'T was herself looked out of her frank brown eye,  
And an answer was burning upon her face,  
Ere I caught the low reply.

What was it! Nothing the world need know —  
The stars saw our parting! Enough, that then

THE ROSEBUDS

61

I walked from the porch with the tread of a king,  
And she was a queen again !

THE ROSEBUDS

YES, in that dainty ivory shrine,  
With those three pallid buds, I twine  
And fold away a dream divine !

One night they lay upon a breast  
Where Love hath made his fragrant nest,  
And throned me as a life-long guest.

Near that chaste heart they seemed to me  
Types of far fairer flowers to be —  
The rosebuds of a human tree !

Buds that shall bloom beside my hearth,  
And there be held of richer worth  
Than all the kingliest gems of earth.

Ah me ! the pathos of the thought !  
I had not deemed she wanted aught ;  
Yet what a tenderer charm it wrought !

I know not if she marked the flame  
That lit my cheek, but not from shame,  
When one sweet image dimly came.

There was a murmur soft and low ;  
White folds of cambric, parted slow ;  
And little fingers played with snow !

How far my fancy dared to stray,  
A lover's reverence needs not say —  
Enough — the vision passed away !

Passed in a mist of happy tears,  
While something in my tranced ears  
Hummed like the future in a seer's !

#### A MOTHER'S WAIL

My babe ! my tiny babe ! my only babe !  
My single rose-bud in a crown of thorns !  
My lamp that in that narrow hut of life,  
Whence I looked forth upon a night of storm !  
Burned with the lustre of the moon and stars !

My babe ! my tiny babe ! my only babe !  
Behold the bud is gone ! the thorns remain !  
My lamp hath fallen from its niche — ah, me !  
Earth drinks the fragrant flame, and I am left  
Forever and forever in the dark !

My babe ! my babe ! my own and only babe !  
Where art thou now ? If somewhere in the sky

An angel hold thee in his radiant arms,  
I challenge him to clasp thy tender form  
With half the fervor of a mother's love!

Forgive me, Lord! forgive my reckless grief!  
Forgive me that this rebel, selfish heart  
Would almost make me jealous for my child,  
Though thy own lap enthroned him. Lord, thou  
hast  
So many such! I have — ah! had but one!

O yet once more, my babe, to hear thy cry!  
O yet once more, my babe, to see thy smile!  
O yet once more to feel against my breast  
Those cool, soft hands, that warm, wet, eager  
mouth,  
With the sweet sharpness of its budding pearls!

But it must never, never more be mine  
To mark the growing meaning in thine eyes,  
To watch thy soul unfolding leaf by leaf,  
Or catch, with ever fresh surprise and joy,  
Thy dawning recognitions of the world.

Three different shadows of thyself, my babe,  
Change with each other while I weep. The first,  
The sweetest, yet the not least fraught with pain,  
Clings like my living boy around my neck,  
Or purrs and murmurs softly at my feet!



Another is a little mound of earth ;  
 That comes the oftenest, darling ! In my dreams,  
 I see it beaten by the midnight rain,  
 Or chilled beneath the moon. Ah ! what a couch  
 For that which I have shielded from a breath  
 That would not stir the violets on thy grave !

The third, my precious babe ! the third, O Lord !  
 Is a fair cherub face beyond the stars,  
 Wearing the roses of a mystic bliss,  
 Yet sometimes not unsaddened by a glance  
 Turned earthward on a mother in her woe !

This is the vision, Lord, that I would keep  
 Before me always. But, alas ! as yet,  
 It is the dimmest and the rarest, too !  
 O touch my sight, or break the cloudy bars  
 That hide it, lest I madden where I kneel !

#### OUR WILLIE

'T WAS merry Christmas when he came,  
 Our little boy beneath the sod ;  
 And brighter burned the Christmas flame,  
 And merrier sped the Christmas game,  
 Because within the house there lay  
 A shape as tiny as a fay—  
     The Christmas gift of God !

In wreaths and garlands on the walls  
The holly hung its ruby balls,  
    The mistletoe its pearls ;  
And a Christmas tree's fantastic fruits  
Woke laughter like a choir of flutes  
    From happy boys and girls.  
For the mirth, which else had swelled as shrill  
As a school let loose to its errant will,  
    Was softened by the thought,  
That in a dim hushed room above  
A mother's pains in a mother's love  
    Were only just forgot.  
The jest, the tale, the toast, the glee,  
All took a sober tone ;  
We spoke of the babe upstairs, as we  
Held festival for him alone.  
When the bells rang in the Christmas morn,  
It scarcely seemed a sin to say  
That they rang because that babe was born,  
Not less than for the sacred day.  
Ah ! Christ forgive us for the crime  
Which drowned the memories of the time  
    In a merely mortal bliss !  
We owned the error when the mirth  
Of another Christmas lit the hearth  
    Of every home but this.  
When, in that lonely burial-ground,  
With every Christmas sight and sound  
Removed or shunned, we kept

A mournful Christmas by the mound  
Where little Willie slept !

Ah, hapless mother ! darling wife !  
I might say nothing more,  
And the dull cold world would hold  
The story of that precious life  
As amply told !

Shall we, shall you and I, before  
That world's unsympathetic eyes  
Lay other relics from our store  
Of tender memories ?  
What could it know of the joy and love  
That throbbed and smiled and wept above  
An unresponsive thing ?

And who could share the ecstatic thrill  
With which we watched the upturned bill  
Of our bird at its living spring ?  
Shall we tell how in the time gone by,  
Beneath all changes of the sky,  
And in an ordinary home  
Amid the city's din,

Life was to us a crystal dome,  
Our babe the flame therein ?

Ah ! this were jargon on the mart ;  
And though some gentle friend,  
And many and many a suffering heart,  
Would weep and comprehend,  
Yet even these might fail to see

What we saw daily in the child —  
Not the mere creature undefiled,  
But the winged cherub soon to be.  
That wandering hand which seemed to reach  
    At angel finger-tips,  
And that murmur like a mystic speech  
    Upon the rosy lips,  
That something in the serious face  
Holier than even its infant grace,  
And that rapt gaze on empty space,  
Which made us, half believing, say,  
“Ah, little wide-eyed seer ! who knows  
But that for you this chamber glows  
With stately shapes and solemn shows ? ”  
Which touched us, too, with vague alarms,  
Lest in the circle of our arms  
We held a being less akin  
To his parents in a world of sin  
Than to beings not of clay :  
How could we speak in human phrase,  
Of such scarce earthly traits and ways,  
    What would not seem  
    A doting dream,  
In the creed of these sordid days ?  
    No ! let us keep  
    Deep, deep,  
In sorrowing heart and aching brain,  
This story hidden with the pain,  
Which since that blue October night

When Willie vanished from our sight,  
Must haunt us even in our sleep.  
In the gloom of the chamber where he died,  
And by that grave which, through our care,  
From Yule to Yule of every year,  
Is made like Spring to bloom ;  
And where, at times, we catch the sigh  
As of an angel floating nigh,  
Who longs but has not power to tell  
That in that violet-shrouded cell  
Lies nothing better than the shell  
Which he had cast aside —  
By that sweet grave, in that dark room,  
We may weave at will for each other's ear,  
Of that life, and that love, and that early doom,  
The tale which is shadowed here :  
To us alone it will always be  
As fresh as our own misery ;  
But enough, alas ! for the world is said,  
In the brief " Here lieth " of the dead !

ADDRESS DELIVERED AT THE OPENING  
OF THE NEW THEATRE AT RICHMOND

## A PRIZE POEM

## A FAIRY ring

Drawn in the crimson of a battle-plain —  
From whose weird circle every loathsome thing  
And sight and sound of pain  
Are banished, while about it in the air,  
And from the ground, and from the low-hung skies,  
Throng, in a vision fair  
As ever lit a prophet's dying eyes,  
Gleams of that unseen world  
That lies about us, rainbow-tinted shapes  
With starry wings unfurled,  
Poised for a moment on such airy capes  
As pierce the golden foam  
Of sunset's silent main —  
Would image what in this enchanted dome,  
Amid the night of war and death  
In which the armed city draws its breath,  
We have built up !  
For though no wizard wand or magic cup  
The spell hath wrought,  
Within this charmed fane, we ope the gates  
Of that divinest Fairy-land,  
Where under loftier fates  
Than rule the vulgar earth on which we stand,

Move the bright creatures of the realm of thought.  
Shut for one happy evening from the flood  
That roars around us, here you may behold —  
    As if a desert way  
    Could blossom and unfold  
    A garden fresh with May —  
Substantialized in breathing flesh and blood,  
    Souls that upon the poet's page  
    Have lived from age to age,  
And yet have never donned this mortal clay.  
    A golden strand  
Shall sometimes spread before you like the isle  
    Where fair Miranda's smile  
Met the sweet stranger whom the father's art  
    Had led unto her heart,  
Which, like a bud that waited for the light,  
    Burst into bloom at sight!  
Love shall grow softer in each maiden's eyes  
As Juliet leans her cheek upon her hand,  
    And prattles to the night.  
    Anon, a reverend form,  
    With tattered robe and forehead bare,  
That challenge all the torments of the air,  
    Goes by!  
And the pent feelings choke in one long sigh,  
While, as the mimic thunder rolls, you hear  
    The noble wreck of Lear  
Reproach like things of life the ancient skies,  
    And commune with the storm!

Lo! next a dim and silent chamber where,  
Wrapt in glad dreams in which, perchance, the  
Moor

Tells his strange story o'er,  
The gentle Desdemona chastely lies,  
Unconscious of the loving murderer nigh.

Then through a hush like death  
Stalks Denmark's mail'd ghost!  
And Hamlet enters with that thoughtful breath  
Which is the trumpet to a countless host  
Of reasons, but which wakes no deed from sleep;  
For while it calls to strife,  
He pauses on the very brink of fact  
To toy as with the shadow of an act,  
And utter those wise saws that cut so deep  
Into the core of life!

Nor shall be wanting many a scene  
Where forms of more familiar mien,  
Moving through lowlier pathways, shall present  
The world of every day,  
Such as it whirls along the busy quay,  
Or sits beneath a rustic orchard wall,  
Or floats about a fashion-freighted hall,  
Or toils in attics dark the night away.  
Love, hate, grief, joy, gain, glory, shame, shall  
meet,  
As in the round wherein our lives are pent;  
Chance for a while shall seem to reign,



While Goodness roves like Guilt about the street,  
And Guilt looks innocent.  
But all at last shall vindicate the right,  
Crime shall be meted with its proper pain,  
Motes shall be taken from the doubter's sight,  
And Fortune's general justice rendered plain.  
Of honest laughter there shall be no dearth,  
Wit shall shake hands with humor grave and sweet,  
Our wisdom shall not be too wise for mirth,  
Nor kindred follies want a fool to greet.  
As sometimes from the meanest spot of earth  
A sudden beauty unexpected starts,  
So you shall find some germs of hidden worth  
Within the vilest hearts ;  
And now and then, when in those moods that turn  
To the cold Muse that whips a fault with sneers,  
You shall, perchance, be strangely touched to learn  
You've struck a spring of tears !

But while we lead you thus from change to change,  
Shall we not find within our ample range  
Some type to elevate a people's heart —  
Some hero who shall teach a hero's part  
In this distracted time ?  
Rise from thy sleep of ages, noble Tell !  
And, with the Alpine thunders of thy voice,  
As if across the billows unenthralled  
Thy Alps unto the Alleghanies called,  
Bid Liberty rejoice !

Proclaim upon this trans-Atlantic strand  
The deeds which, more than their own awful mien,  
Make every crag of Switzerland sublime !  
And say to those whose feeble souls would lean,  
Not on themselves, but on some outstretched hand,  
That once a single mind sufficed to quell  
The malice of a tyrant ; let them know  
That each may crowd in every well-aimed blow,  
Not the poor strength alone of arm and brand,  
But the whole spirit of a mighty land !

Bid Liberty rejoice ! Aye, though its day  
Be far or near, these clouds shall yet be red  
With the large promise of the coming ray.  
Meanwhile, with that calm courage which can smile  
Amid the terrors of the wildest fray,  
Let us among the charms of Art awhile  
Fleet the deep gloom away ;  
Nor yet forget that on each hand and head  
Rest the dear rights for which we fight and pray.

## A VISION OF POESY

## PART I

## I

IN a far country, and a distant age,  
Ere sprites and fays had bade farewell to earth,  
A boy was born of humble parentage ;  
The stars that shone upon his lonely birth  
Did seem to promise sovereignty and fame—  
Yet no tradition hath preserved his name.

## II

'T is said that on the night when he was born,  
A beauteous shape swept slowly through the  
room ;  
Its eyes broke on the infant like a morn,  
And his cheek brightened like a rose in bloom ;  
But as it passed away there followed after  
A sigh of pain, and sounds of elvish laughter.

## III

And so his parents deemed him to be blest  
Beyond the lot of mortals ; they were poor  
As the most timid bird that stored its nest  
With the stray gleanings at their cottage-door :  
Yet they contrived to rear their little dove,  
And he repaid them with the tenderest love.

## IV

The child was very beautiful in sooth,  
And as he waxed in years grew lovelier still;  
On his fair brow the aureole of truth  
Beamed, and the purest maidens, with a thrill,  
Looked in his eyes, and from their heaven of blue  
Saw thoughts like sinless Angels peering through.

## V

Need there was none of censure or of praise  
To mould him to the kind parental hand;  
Yet there was ever something in his ways,  
Which those about him could not understand;  
A self-withdrawn and independent bliss,  
Beside the father's love, the mother's kiss.

## VI

For oft, when he believed himself alone,  
They caught brief snatches of mysterious rhymes,  
Which he would murmur in an undertone,  
Like a pleased bee's in summer; and at times  
A strange far look would come into his eyes,  
As if he saw a vision in the skies.

## VII

And he upon a simple leaf would pore  
As if its very texture unto him  
Had some deep meaning; sometimes by the door,  
From noon until a summer-day grew dim,

He lay and watched the clouds ; and to his thought  
Night with her stars but fitful slumbers brought.

## VIII

In the long hours of twilight, when the breeze  
Talked in low tones along the woodland rills,  
Or the loud North its stormy minstrelsies  
Blent with wild noises from the distant hills,  
The boy — his rosy hand against his ear  
Curved like a sea-shell — hushed as some rapt  
seer,

## IX

Followed the sounds, and ever and again,  
As the wind came and went, in storm or play,  
He seemed to hearken as to some far strain  
Of mingled voices calling him away ;  
And they who watched him held their breath to  
trace  
The still and fixed attention in his face.

## X

Once, on a cold and loud-voiced winter night,  
The three were seated by their cottage-fire —  
The mother watching by its flickering light  
The wakeful urchin, and the dozing sire ;  
There was a brief, quick motion like a bird's,  
And the boy's thought thus rippled into words :

## XI

"O mother ! thou hast taught me many things,  
But none I think more beautiful than speech —  
A nobler power than even those broad wings  
I used to pray for, when I longed to reach  
That distant peak which on our vale looks down,  
And wears the star of evening for a crown.

## XII

"But, mother, while our human words are rife  
To us with meaning, other sounds there be  
Which seem, and are, the language of a life  
Around, yet unlike ours : winds talk ; the sea  
Murmurs articulately, and the sky  
Listens, and answers, though inaudibly.

## XIII

"By stream and spring, in glades and woodlands  
lone,  
Beside our very cot I've gathered flowers  
Inscribed with signs and characters unknown ;  
But the frail scrolls still baffle all my powers :  
What is this language and where is the key  
That opes its weird and wondrous mystery ?

## XIV

"The forests know it, and the mountains know,  
And it is written in the sunset's dyes ;

78 POEMS OF HENRY TIMROD

A revelation to the world below  
Is daily going on before our eyes ;  
And, but for sinful thoughts, I do not doubt  
That we could spell the thrilling secret out.

XV

“O mother ! somewhere on this lovely earth  
I lived, and understood that mystic tongue,  
But, for some reason, to my second birth  
Only the dullest memories have clung,  
Like that fair tree that even while blossoming  
Keeps the dead berries of a former spring.

XVI

“Who shall put life in these ? — my nightly dreams  
Some teacher of supernal powers foretell ;  
A fair and stately shape appears, which seems  
Bright with all truth ; and once, in a dark dell  
Within the forest, unto me there came  
A voice that must be hers, which called my name.”

XVII

Puzzled and frightened, wondering more and more,  
The mother heard, but did not comprehend ;  
“So early dallying with forbidden lore !  
Oh, what will chance, and wherein will it end ?  
My child ! my child !” she caught him to her  
breast,  
“Oh, let me kiss these wildering thoughts to rest !

## XVIII

"They cannot come from God, who freely gives  
All that we need to have, or ought to know ;  
Beware, my son ! some evil influence strives  
To grieve thy parents, and to work thee woe ;  
Alas ! the vision I misunderstood !  
It could not be an angel fair and good."

## XIX

And then, in low and tremulous tones, she told  
The story of his birth-night ; the boy's eyes,  
As the wild tale went on, were bright and bold,  
With a weird look that did not seem surprise :  
"Perhaps," he said, "this lady and her elves  
Will one day come, and take me to themselves."

## XX

"And wouldst thou leave us ?" "Dearest mother,  
no !  
Hush ! I will check these thoughts that give thee  
pain ;  
Or, if they flow, as they perchance must flow,  
At least I will not utter them again ;  
Hark ! didst thou hear a voice like many streams ?  
Mother ! it is the spirit of my dreams !"

## XXI

Thenceforth, whatever impulse stirred below,  
In the deep heart beneath that childish breast,



Those lips were sealed, and though the eye would  
 glow,  
 Yet the brow wore an air of perfect rest ;  
 Cheerful, content, with calm though strong control  
 He shut the temple-portals of his soul.

## XXII

And when too restlessly the mighty throng  
 Of fancies woke within his teeming mind,  
 All silently they formed in glorious song,  
 And floated off unheard, and undivined,  
 Perchance not lost — with many a voiceless prayer  
 They reached the sky, and found some record there.

## XXIII

Softly and swiftly sped the quiet days ;  
 The thoughtful boy has blossomed into youth,  
 And still no maiden would have feared his gaze,  
 And still his brow was noble with the truth :  
 Yet, though he masks the pain with pious art,  
 There burns a restless fever in his heart.

## XXIV

A childish dream is now a deathless need  
 Which drives him to far hills and distant wilds ;  
 The solemn faith and fervor of his creed  
 Bold as a martyr's, simple as a child's ;  
 The eagle knew him as she knew the blast,  
 And the deer did not flee him as he passed.

## XXV

But gentle even in his wildest mood,  
Always, and most, he loved the bluest weather,  
And in some soft and sunny solitude  
Couched like a milder sunshine on the heather,  
He communed with the winds, and with the birds,  
As if they might have answered him in words.

## XXVI

Deep buried in the forest was a nook  
Remote and quiet as its quiet skies ;  
He knew it, sought it, loved it as a book  
Full of his own sweet thoughts and memories ;  
Dark oaks and fluted chestnuts gathering round,  
Pillared and greenly domed a sloping mound.

## XXVII

Whereof — white, purple, azure, golden, red,  
Confused like hues of sunset — the wild flowers  
Wove a rich dais ; through crosslights overhead  
Glanced the clear sunshine, fell the fruitful  
showers,  
And here the shyest bird would fold her wings ;  
Here fled the fairest and the gentlest things.

## XXVIII

Thither, one night of mist and moonlight, came  
The youth, with nothing deeper in his thoughts

Than to behold beneath the silver flame  
New aspects of his fair and favorite spot ;  
A single ray attained the ground, and shed  
Just light enough to guide the wanderer's tread.

## XXIX

And high and hushed arose the stately trees,  
Yet shut within themselves, like dungeons, where  
Lay fettered all the secrets of the breeze ;  
Silent, but not as slumbering, all things there  
Wore to the youth's aroused imagination  
An air of deep and solemn expectation.

## XXX

"Hath Heaven," the youth exclaimed, "a sweeter  
spot,  
Or Earth another like it? — yet even here  
The old mystery dwells! and though I read it not,  
Here most I hope — it is, or seems so near ;  
So many hints come to me, but, alas!  
I cannot grasp the shadows as they pass.

## XXXI

"Here, from the very turf beneath me, I  
Catch, but just catch, I know not what faint  
sound,  
And darkly guess that from yon silent sky  
Float starry emanations to the ground ;  
These ears are deaf, these human eyes are blind,  
I want a purer heart, a subtler mind.

## XXXII

“Sometimes — could it be fancy? — I have felt  
The presence of a spirit who might speak ;  
As down in lowly reverence I knelt,  
Its very breath hath kissed my burning cheek ;  
But I in vain have hushed my own to hear  
A wing or whisper stir the silent air !”

## XXXIII

Is not the breeze articulate? Hark ! Oh, hark !  
A distant murmur, like a voice of floods ;  
And onward sweeping slowly through the dark,  
Bursts like a call the night-wind from the woods !  
Low bow the flowers, the trees fling loose their  
dreams,  
And through the waving roof a fresher moonlight  
streams.

## XXXIV

“Mortal !” — the word crept slowly round the  
place  
As if that wind had breathed it ! From no star  
Streams that soft lustre on the dreamer’s face.  
Again a hushing calm ! while faint and far  
The breeze goes calling onward through the  
night.  
Dear God ! what vision chains that wide-strained  
sight ?

## XXXV

Over the grass and flowers, and up the slope  
Glides a white cloud of mist, self-moved and  
slow,  
That, pausing at the hillock's moonlit cope,  
Swayed like a flame of silver; from below  
The breathless youth with beating heart beholds  
A mystic motion in its argent folds.

## XXXVI

Yet his young soul is bold, and hope grows warm,  
As flashing through that cloud of shadowy  
crape,  
With sweep of robes, and then a gleaming arm,  
Slowly developing, at last took shape  
A face and form unutterably bright,  
That cast a golden glamour on the night.

## XXXVII

But for the glory round it it would seem  
Almost a mortal maiden; and the boy,  
Unto whom love was yet an innocent dream,  
Shivered and crimsoned with an unknown joy;  
As to the young Spring bounds the passionate  
South,  
He could have clasped and kissed her mouth to  
mouth.

## XXXVIII

Yet something checked, that was and was not  
dread,

Till in a low sweet voice the maiden spake ;  
She was the Fairy of his dreams, she said,  
And loved him simply for his human sake ;  
And that in heaven, wherefrom she took her birth,  
They called her Poesy, the angel of the earth.

## XXXIX

“And ever since that immemorial hour,  
When the glad morning-stars together sung,  
My task hath been, beneath a mightier Power,  
To keep the world forever fresh and young ;  
I give it not its fruitage and its green,  
But clothe it with a glory all unseen.

## XL

“I sow the germ which buds in human art,  
And, with my sister, Science, I explore  
With light the dark recesses of the heart,  
And nerve the will, and teach the wish to soar ;  
I touch with grace the body’s meanest clay,  
While noble souls are nobler for my sway.

## XLI

“Before my power the kings of earth have bowed ;  
I am the voice of Freedom, and the sword

Leaps from its scabbard when I call aloud ;  
 Wherever life in sacrifice is poured,  
 Wherever martyrs die or patriots bleed,  
 I weave the chaplet and award the meed.

XLII

“Where Passion stoops, or strays, is cold, or dead,  
 I lift from error, or to action thrill !  
 Or if it rage too madly in its bed,  
 The tempest hushes at my ‘Peace ! be still !’  
 I know how far its tides should sink or swell,  
 And they obey my sceptre and my spell.

XLIII

“All lovely things, and gentle — the sweet laugh  
 Of children, Girlhood’s kiss, and Friendship’s  
 clasp,  
 The boy that sporteth with the old man’s staff,  
 The baby, and the breast its fingers grasp —  
 All that exalts the grounds of happiness,  
 All griefs that hallow, and all joys that bless,

XLIV

“To me are sacred ; at my holy shrine  
 Love breathes its latest dreams, its earliest hints ;  
 I turn life’s tasteless waters into wine,  
 And flush them through and through with purple  
 tints.  
 Wherever Earth is fair, and Heaven looks down,  
 I rear my altars, and I wear my crown.

## XLV

"I am the unseen spirit thou hast sought,  
I woke those shadowy questionings that vex  
Thy young mind, lost in its own cloud of thought,  
And rouse the soul they trouble and perplex ;  
I filled thy days with visions, and thy nights  
Blessed with all sweetest sounds and fairy sights.

## XLVI

"Not here, not in this world, may I disclose  
The mysteries in which this life is hearsed ;  
Some doubts there be that, with some earthly woes,  
By Death alone shall wholly be dispersed ;  
Yet on those very doubts from this low sod  
Thy soul shall pass beyond the stars to God.

## XLVII

"And so to knowledge, climbing grade by grade,  
Thou shalt attain whatever mortals can,  
And what thou mayst discover by my aid  
Thou shalt translate unto thy brother man ;  
And men shall bless the power that flings a ray  
Into their night from thy diviner day.

## XLVIII

"For, from thy lofty height, thy words shall fall  
Upon their spirits like bright cataracts  
That front a sunrise ; thou shalt hear them call  
Amid their endless waste of arid facts,



As wearily they plod their way along,  
Upon the rhythmic zephyrs of thy song.

## XLIX

“All this is in thy reach, but much depends  
Upon thyself — thy future I await;  
I give the genius, point the proper ends,  
But the true bard is his own only Fate;  
Into thy soul my soul have I infused;  
Take care thy lofty powers be wisely used.

## L

“The Poet owes a high and holy debt,  
Which, if he feel, he craves not to be heard  
For the poor boon of praise, or place, nor yet  
Does the mere joy of song, as with the bird  
Of many voices, prompt the choral lay  
That cheers that gentle pilgrim on his way.

## LI

“Nor may he always sweep the passionate lyre,  
Which is his heart, only for such relief  
As an impatient spirit may desire,  
Lest, from the grave which hides a private grief,  
The spells of song call up some pallid wraith  
To blast or ban a mortal hope or faith.

## LII

“Yet over his deep soul, with all its crowd  
Of varying hopes and fears, he still must brood;

As from its azure height a tranquil cloud  
Watches its own bright changes in the flood ;  
Self-reading, not self-loving — they are twain —  
And sounding, while he mourns, the depths of pain.

## LIII

“ Thus shall his songs attain the common breast,  
Dyed in his own life's blood, the sign and seal,  
Even as the thorns which are the martyr's crest,  
That do attest his office, and appeal  
Unto the universal human heart  
In sanction of his mission and his art.

## LIV

“ Much yet remains unsaid — pure must he be ;  
Oh, blessèd are the pure ! for they shall hear  
Where others hear not, see where others see  
With a dazed vision : who have drawn most  
near  
My shrine, have ever brought a spirit cased  
And mailèd in a body clean and chaste.

## LV

“ The Poet to the whole wide world belongs,  
Even as the teacher is the child's — I said  
No selfish aim should ever mar his songs,  
But self wears many guises ; men may wed  
Self in another, and the soul may be  
Self to its centre, all unconsciously.

## LVI

“And therefore must the Poet watch, lest he,  
In the dark struggle of this life, should take  
Stains which he might not notice; he must flee  
Falsehood, however winsome, and forsake  
All for the Truth, assured that Truth alone  
Is Beauty, and can make him all my own.

## LVII

“And he must be as armèd warrior strong,  
And he must be as gentle as a girl,  
And he must front, and sometimes suffer wrong,  
With brow unbent, and lip untaught to curl;  
For wrath, and scorn, and pride, however just,  
Fill the clear spirit's eyes with earthly dust.”

---

The story came to me — it recks not whence —  
In fragments. Oh! if I could tell it all,  
If human speech indeed could tell it all,  
’T were not a whit less wondrous, than if I  
Should find, untouched in leaf and stem, and bright,  
As when it bloomed three thousand years ago,  
On some Idalian slope, a perfect rose.  
Alas! a leaf or two, and they perchance  
Scarce worth the hiving, one or two dead leaves  
Are the sole harvest of a summer's toil.  
There was a moment, ne’er to be recalled,  
When to the Poet's hope within my heart,

They wore a tint like life's, but in my hand,  
I know not why, they withered. I have heard  
Somewhere, of some dead monarch, from the tomb,  
Where he had slept a century and more,  
Brought forth, that when the coffin was laid bare,  
Albeit the body in its mouldering robes  
Was fleshless, yet one feature still remained  
Perfect, or perfect seemed at least ; the eyes  
Gleamed for a second on the startled crowd,  
And then went out in ashes. Even thus  
The story, when I drew it from the grave  
Where it had lain so long, did seem, I thought,  
Not wholly lifeless ; but even while I gazed  
To fix its features on my heart, and called  
The world to wonder with me, lo ! it proved  
I looked upon a corpse !

What further fell  
In that lone forest nook, how much was taught,  
How much was only hinted, what the youth  
Promised, if promise were required, to do  
Or strive for, what the gifts he bore away —  
Or added powers or blessings — how at last,  
The vision ended and he sought his home,  
How lived there, and how long, and when he  
passed  
Into the busy world to seek his fate,  
I know not, and if any ever knew,  
The tale hath perished from the earth ; for here  
The slender thread on which my song is strung

Breaks off, and many after years of life  
Are lost to sight, the life to reappear  
Only towards its close — as of a dream  
We catch the end and opening, but forget  
That which had joined them in the dreaming brain ;  
Or as a mountain with a belt of mist  
That shows his base, and far above, a peak  
With a blue plume of pines.

But turn the page  
And read the only hints that yet remain.

## PART II

## I

It is not winter yet, but that sweet time  
In autumn when the first cool days are past ;  
A week ago, the leaves were hoar with rime,  
And some have dropped before the North wind's  
blast ;  
But the mild hours are back, and at mid-noon,  
The day hath all the genial warmth of June.

## II

What slender form lies stretched along the mound ?  
Can it be his, the Wanderer's, with that brow  
Gray in its prime, those eyes that wander round  
Listlessly, with a jaded glance that now  
Seems to see nothing where it rests, and then  
Pores on each trivial object in its ken ?

## III

See how a gentle maid's wan fingers clasp  
The last fond love-notes of some faithless hand ;  
Thus, with a transient interest, his weak grasp  
Holds a few leaves as when of old he scanned  
The meaning in their gold and crimson streaks ;  
But the sweet dream has vanished ! hush ! he  
speaks !

## IV

"Once more, once more, after long pain and toil,  
And yet not long, if I should count by years,  
I breathe my native air, and tread the soil  
I trod in childhood ; if I shed no tears,  
No happy tears, 't is that their fount is dry,  
And joy that cannot weep must sigh, must sigh.

## V

"These leaves, my boyish books in days of yore,  
When, as the weeks sped by, I seemed to stand  
Ever upon the brink of some wild lore —  
These leaves shall make my bed, and — for the  
hand  
Of God is on me, chilling brain and breath —  
I shall not ask a softer couch in death.

## VI

"Here was it that I saw, or dreamed I saw,  
I know not which, that shape of love and light.

Spirit of Song! have I not owned thy law?  
 Have I not taught, or striven to teach the right,  
 And kept my heart as clean, my life as sweet,  
 As mortals may, when mortals mortals meet?

VII

"Thou know'st how I went forth, my youthful  
 breast  
 On fire with thee, amid the paths of men;  
 Once in my wanderings, my lone footsteps pressed  
 A mountain forest; in a sombre glen,  
 Down which its thundrous boom a cataract flung,  
 A little bird, unheeded, built and sung.

VIII

"So fell my voice amid the whirl and rush  
 Of human passions; if unto my art  
 Sorrow hath sometimes owed a gentler gush,  
 I know it not; if any Poet-heart  
 Hath kindled at my songs its light divine,  
 I know it not; no ray came back to mine.

IX

"Alone in crowds, once more I sought to make  
 Of senseless things my friends; the clouds that  
 burn  
 Above the sunset, and the flowers that shake  
 Their odors in the wind — these would not turn  
 Their faces from me; far from cities, I  
 Forgot the scornful world that passed me by.

## X

"Yet even the world's cold slights I might have borne,  
Nor fled, though sorrowing ; but I shrank at last  
When one sweet face, too sweet, I thought, for scorn,  
Looked scornfully upon me ; then I passed  
From all that youth had dreamed or manhood planned,  
Into the self that none would understand.

## XI

"She was — I never wronged her womanhood  
By crowning it with praises not her own —  
She was all earth's, and earth's, too, in that mood  
When she brings forth her fairest ; I atone  
Now, in this fading brow and failing frame,  
That such a soul such soul as mine could tame.

## XII

"Clay to its kindred clay ! I loved, in sooth,  
Too deeply and too purely to be blest ;  
With something more of lust and less of truth  
She would have sunk all blushes on my breast ;  
And — but I must not blame her — in my ear  
Death whispers ! and the end, thank God ! draws near !"



## XIII

Hist ! on the perfect silence of the place  
Comes and dies off a sound like far-off rain  
With voices mingled ; on the Poet's face  
A shadow, where no shadow should have lain,  
Falls the next moment : nothing meets his sight,  
Yet something moves betwixt him and the light.

## XIV

And a voice murmurs, " Wonder not, but hear !  
ME to behold again thou need'st not seek ;  
Yet by the dim-felt influence on the air,  
And by the mystic shadow on thy cheek,  
Know, though thou mayst not touch with fleshly  
hands,  
The genius of thy life beside thee stands !

## XV

" Unto no fault, O weary-hearted one !  
Unto no fault of man's thou ow'st thy fate ;  
All human hearts that beat this earth upon,  
All human thoughts and human passions wait  
Upon the genuine bard, to him belong,  
And help in their own way the Poet's song.

## XVI

" How blame the world ? for the world hast thou  
wrought ?  
Or wast thou but as one who aims to fling

The weight of some unutterable thought  
Down like a burden ? what from questioning  
Too subtly thy own spirit, and to speech  
But half subduing themes beyond the reach

## XVII

“Of mortal reason ; what from living much  
In that dark world of shadows, where the soul  
Wanders bewildered, striving still to clutch  
Yet never clutching once, a shadowy goal,  
Which always flies, and while it flies seems near,  
Thy songs were riddles hard to mortal ear.

## XVIII

“This was the hidden selfishness that marred  
Thy teachings ever ; this the false key-note  
That on such souls as might have loved thee jarred  
Like an unearthly language ; thou didst float  
On a strange water ; those who stood on land  
Gazed, but they could not leave their beaten strand.

## XIX

“Your elements were different, and apart —  
The world’s and thine — and even in those in-  
tense  
And watchful broodings o’er thy inmost heart,  
It was thy own peculiar difference  
That thou didst seek ; nor didst thou care to find  
Aught that would bring thee nearer to thy kind.

## XX

“Not thus the Poet, who in blood and brain  
Would represent his race and speak for all,  
Weaves the bright woof of that impassioned strain  
Which drapes, as if for some high festival  
Of pure delights — whence few of human birth  
May rightly be shut out — the common earth.

## XXI

“As the same law that moulds a planet, rounds  
A drop of dew, so the great Poet spheres  
Worlds in himself ; no selfish limit bounds  
A sympathy that folds all characters,  
All ranks, all passions, and all life almost  
In its wide circle. Like some noble host,

## XXII

“He spreads the riches of his soul, and bids  
Partake who will. Age has its saws of truth,  
And love is for the maiden’s drooping lids,  
And words of passion for the earnest youth ;  
Wisdom for all ; and when it seeks relief,  
Tears, and their solace for the heart of grief.

## XXIII

“Nor less on him than thee the mysteries  
Within him and about him ever weigh —  
The meanings in the stars, and in the breeze,  
All the weird wonders of the common day,

Truths that the merest point removes from reach,  
And thoughts that pause upon the brink of speech ;

## XXIV

“ But on the surface of his song these lie  
As shadows, not as darkness ; and alway,  
Even though it breathe the secrets of the sky,  
There is a human purpose in the lay ;  
Thus some tall fir that whispers to the stars  
Shields at its base a cotter’s lattice-bars.

## XXV

“ Even such my Poet ! for thou still art mine !  
Thou mightst have been, and now have calmly  
died,  
A priest, and not a victim at the shrine ;  
Alas ! yet was it all thy fault ? I chide,  
Perchance, myself within thee, and the fate  
To which thy power was solely consecrate.

## XXVI

“ Thy life hath not been wholly without use,  
Albeit that use is partly hidden now ;  
In thy unmingled scorn of any truce  
With this world’s specious falsehoods, often thou  
Hast uttered, through some all unworldly song,  
Truths that for man might else have slumbered  
long.

XXVII

“And these not always vainly on the crowd  
 Have fallen ; some are cherished now, and some,  
 In mystic phrases wrapped as in a shroud,  
 Wait the diviner, who as yet is dumb  
 Upon the breast of God — the gate of birth  
 Closed on a dreamless ignorance of earth.

XXVIII

“And therefore, though thy name shall pass away,  
 Even as a cloud that hath wept all its showers,  
 Yet as that cloud shall live again one day  
 In the glad grass, and in the happy flowers,  
 So in thy thoughts, though clothed in sweeter  
 rhymes,  
 Thy life shall bear its flowers in future times.”

THE PAST

To-day's most trivial act may hold the seed  
 Of future fruitfulness, or future dearth ;  
 Oh, cherish always every word and deed !  
 The simplest record of thyself hath worth.

If thou hast ever slighted one old thought,  
 Beware lest Grief enforce the truth at last ;  
 The time must come wherein thou shalt be taught  
 The value and the beauty of the Past.

## DREAMS

101

Not merely as a warner and a guide,  
    “A voice behind thee,” sounding to the strife ;  
But something never to be put aside,  
    A part and parcel of thy present life.

Not as a distant and a darkened sky,  
    Through which the stars peep, and the moon-  
        beams glow ;  
But a surrounding atmosphere, whereby  
    We live and breathe, sustained in pain and woe.

A shadowy land, where joy and sorrow kiss,  
    Each still to each corrective and relief,  
Where dim delights are brightened into bliss,  
    And nothing wholly perishes but Grief.

Ah, me ! — not dies — no more than spirit dies ;  
    But in a change like death is clothed with wings ;  
A serious angel, with entranced eyes,  
    Looking to far-off and celestial things.

## DREAMS

WHO first said “false as dreams” ? Not one who  
    saw  
    Into the wild and wondrous world they sway ;  
No thinker who hath read their mystic law ;  
    No Poet who hath weaved them in his lay.

Else had he known that through the human breast  
 Cross and recross a thousand fleeting gleams,  
 That, passed unnoticed in the day's unrest,  
 Come out at night, like stars, in shining dreams ;

That minds too busy or too dull to mark  
 The dim suggestion of the noisier hours,  
 By dreams in the deep silence of the dark,  
 Are roused at midnight with their folded powers.

Like that old fount beneath Dodona's oaks,  
 That, dry and voiceless in the garish noon,  
 When the calm night arose with modest looks,  
 Caught with full wave the sparkle of the moon.

If, now and then, a ghastly shape glide in,  
 And fright us with its horrid gloom or glee,  
 It is the ghost of some forgotten sin  
 We failed to exorcise on bended knee.

And that sweet face which only yesternight  
 Came to thy solace, dreamer (didst thou read  
 The blessing in its eyes of tearful light?),  
 Was but the spirit of some gentle deed.

Each has its lesson ; for our dreams in sooth,  
 Come they in shape of demons, gods, or elves,  
 Are allegories with deep hearts of truth  
 That tell us solemn secrets of ourselves.

## THE ARCTIC VOYAGER

SHALL I desist, twice baffled? Once by land,  
And once by sea, I fought and strove with storms,  
All shades of danger, tides, and weary calms;  
Head-currents, cold and famine, savage beasts,  
And men more savage; all the while my face  
Looked northward toward the pole; if mortal  
strength

Could have sustained me, I had never turned  
Till I had seen the star which never sets  
Freeze in the Arctic zenith. That I failed  
To solve the mysteries of the ice-bound world,  
Was not because I faltered in the quest.  
Witness those pathless forests which conceal  
The bones of perished comrades, that long march,  
Blood-tracked o'er flint and snow, and one dread  
night

By Athabasca, when a cherished life  
Flowed to give life to others. This, and worse,  
I suffered — let it pass — it has not tamed  
My spirit nor the faith which was my strength.  
Despite of waning years, despite the world  
Which doubts, the few who dare, I purpose now —  
A purpose long and thoughtfully resolved,  
Through all its grounds of reasonable hope —  
To seek beyond the ice which guards the Pole,  
A sea of open water; for I hold,



Not without proofs, that such a sea exists,  
And may be reached, though since this earth was  
made

No keel hath ploughed it, and to mortal ear  
No wind hath told its secrets . . . . With this  
tide

I sail ; if all be well, this very moon  
Shall see my ship beyond the southern cape  
Of Greenland, and far up the bay through which,  
With diamond spire and gorgeous pinnacle,  
The fleets of winter pass to warmer seas.  
Whether, my hardy shipmates ! we shall reach  
Our bourne, and come with tales of wonder back,  
Or whether we shall lose the precious time,  
Locked in thick ice, or whether some strange fate  
Shall end us all, I know not ; but I know  
A lofty hope, if earnestly pursued,  
Is its own crown, and never in this life  
Is labor wholly fruitless. In this faith  
I shall not count the chances — sure that all  
A prudent foresight asks we shall not want,  
And all that bold and patient hearts can do  
Ye will not leave undone. The rest is God's !

DRAMATIC FRAGMENT

LET the boy have his will ! I tell thee, brother,  
 We treat these little ones too much like flowers,  
 Training them, in blind selfishness, to deck  
 Sticks of our poor setting, when they might,  
 If left to clamber where themselves incline,  
 Find nobler props to cling to, fitter place,  
 And sweeter air to bloom in. It is wrong —  
 Thou striv'st to sow with feelings all thine own,  
 With thoughts and hopes, anxieties and aims,  
 Born of thine own peculiar self, and fed  
 Upon a certain round of circumstance,  
 A soul as different and distinct from thine  
 As love of goodness is from love of glory,  
 Or noble poesy from noble prose.  
 I could forgive thee, if thou wast of them  
 Who do their fated parts in this world's business,  
 Scarce knowing how or why — for common minds  
 See not the difference 'twixt themselves and others —  
 But thou, thou, with the visions which thy youth  
 did cherish  
 Substantialized upon thy regal brow,  
 Shouldst boast a deeper insight. We are born,  
 It is my faith, in miniature completeness,  
 And like each other only in our weakness.  
 Even with our mother's milk upon our lips,

Our smiles have different meanings, and our hands  
 Press with degrees of softness to her bosom.  
 It is not change — whatever in the heart  
 That wears its semblance, we, in looking back,  
 With gratulation or regret, perceive —  
 It is not change we undergo, but only  
 Growth or development. Yes! what is childhood  
 But after all a sort of golden daylight,  
 A beautiful and blessed wealth of sunshine,  
 Wherein the powers and passions of the soul  
 Sleep starlike but existent, till the night  
 Of gathering years shall call the slumbers forth,  
 And they rise up in glory? Early grief,  
 A shadow like the darkness of eclipse,  
 Hath sometimes waked them sooner.

#### THE SUMMER BOWER

It is a place whither I've often gone  
 For peace, and found it, secret, hushed, and cool,  
 A beautiful recess in neighboring woods.  
 Trees of the soberest hues, thick-leaved and tall,  
 Arch it o'erhead and column it around,  
 Framing a covert, natural and wild,  
 Domelike and dim ; though nowhere so enclosed  
 But that the gentlest breezes reach the spot  
 Unwearied and unweakened. Sound is here  
 A transient and unfrequent visitor ;

Yet if the day be calm, not often then,  
Whilst the high pines in one another's arms  
Sleep, you may sometimes with unstartled ear  
Catch the far fall of voices, how remote  
You know not, and you do not care to know.  
The turf is soft and green, but not a flower  
Lights the recess, save one, star-shaped and  
bright —

I do not know its name — which here and there  
Gleams like a sapphire set in emerald.  
A narrow opening in the branch'd roof,  
A single one, is large enough to show,  
With that half glimpse a dreamer loves so much,  
The blue air and the blessing of the sky.  
Thither I always bent my idle steps,  
When griefs depressed, or joys disturbed my heart,  
And found the calm I looked for, or returned  
Strong with the quiet rapture in my soul.

But one day,  
One of those July days when winds have fled  
One knows not whither, I, most sick in mind  
With thoughts that shall be nameless, yet, no doubt,  
Wrong, or at least unhealthful, since though dark  
With gloom, and touched with discontent, they had  
No adequate excuse, nor cause, nor end,  
I, with these thoughts, and on this summer day,  
Entered the accustomed haunt, and found for once  
No medicinal virtue.

Not a leaf  
Stirred with the whispering welcome which I sought,

But in a close and humid atmosphere,  
 Every fair plant and implicated bough  
 Hung lax and lifeless. Something in the place,  
 Its utter stillness, the unusual heat,  
 And some more secret influence, I thought,  
 Weighed on the sense like sin. Above I saw,  
 Though not a cloud was visible in heaven,  
 The pallid sky look through a glazed mist  
 Like a blue eye in death.

The change, perhaps,  
 Was natural enough ; my jaundiced sight,  
 The weather, and the time explain it all :  
 Yet have I drawn a lesson from the spot,  
 And shrined it in these verses for my heart.  
 Thenceforth those tranquil precincts I have sought  
 Not less, and in all shades of various moods ;  
 But always shun to desecrate the spot  
 By vain repinings, sickly sentiments,  
 Or inconclusive sorrows. Nature, though  
 Pure as she was in Eden when her breath  
 Kissed the white brow of Eve, doth not refuse,  
 In her own way and with a just reserve,  
 To sympathize with human suffering ;  
 But for the pains, the fever, and the fret  
 Engendered of a weak, unquiet heart,  
 She hath no solace ; and who seeks her when  
 These be the troubles over which he moans,  
 Reads in her unreplying lineaments  
 Rebukes, that, to the guilty consciousness,  
 Strike like contempt.

A RHAPSODY OF A SOUTHERN WINTER  
NIGHT

OH! dost thou flatter falsely, Hope?  
The day hath scarcely passed that saw thy birth,  
Yet thy white wings are plumed to all their scope,  
And hour by hour thine eyes have gathered light,  
And grown so large and bright,  
That my whole future life unfolds what seems,  
Beneath their gentle beams,  
A path that leads athwart some guiltless earth,  
To which a star is dropping from the night!

Not many moons ago,  
But when these leafless beds were all aglow  
With summer's dearest treasures, I  
Was reading in this lonely garden-nook;  
A July noon was cloudless in the sky,  
And soon I put my shallow studies by;  
Then, sick at heart, and angered by the book,  
Which, in good sooth, was but the long-drawn sigh  
Of some one who had quarreled with his kind,  
Vexed at the very proofs which I had sought,  
And all annoyed while all alert to find  
A plausible likeness of my own dark thought,  
I cast me down beneath yon oak's wide boughs,  
And, shielding with both hands my throbbing  
brows,

Watched lazily the shadows of my brain.  
 The feeble tide of peevishness went down,  
 And left a flat dull waste of dreary pain,  
 Which seemed to clog the blood in every vein ;  
 The world, of course, put on its darkest frown —  
 In all its realms I saw no mortal crown  
 Which did not wound or crush some restless  
                   head ;

And hope, and will, and motive, all were dead.  
 So, passive as a stone, I felt too low  
 To claim a kindred with the humblest flower ;  
 Even that would bare its bosom to a shower,  
 While I henceforth would take no pains to live,  
 Nor place myself where I might feel or give  
 A single impulse whence a wish could grow.  
 There was a tulip scarce a gossamer's throw  
 Beyond that platanus. A little child,  
 Most dear to me, looked through the fence and  
                   smiled.

A hint that I should pluck it for her sake.  
 Ah, me ! I trust I was not well awake —

                  The voice was very sweet,  
 Yet a faint languor kept me in my seat.  
 I saw a pouted lip, a toss, and heard  
 Some low expostulating tones, but stirred  
 Not even a leaf's length, till the pretty fay,  
 Wondering, and half abashed at the wild feat,  
 Climbed the low pales, and laughed my gloom  
                   away.

And here again, but led by other powers,  
 A morning and a golden afternoon,  
 These happy stars, and yonder setting moon,  
 Have seen me speed, unreckoned and untasked,  
     A round of precious hours.

Oh ! here, where in that summer noon I basked,  
 And strove, with logic frailer than the flowers,  
 To justify a life of sensuous rest,  
 A question dear as home or heaven was asked,  
 And without language answered. I was blest !  
 Blest with those nameless boons too sweet to trust  
 Unto the telltale confidence of song.  
 Love to his own glad self is sometimes coy,  
 And even thus much doth seem to do him wrong ;  
 While in the fears which chasten mortal joy,  
 Is one that shuts the lips, lest speech too free,  
 With the cold touch of hard reality,  
 Should turn its priceless jewels into dust.  
 Since that long kiss which closed the morning's  
     talk,

I have not strayed beyond this garden walk.  
 As yet a vague delight is all I know,  
 A sense of joy so wild 't is almost pain,  
 And like a trouble drives me to and fro,  
 And will not pause to count its own sweet gain.  
 I am so happy ! that is all my thought.  
 To-morrow I will turn it round and round,  
 And seek to know its limits and its ground.  
 To-morrow I will task my heart to learn



The duties which shall spring from such a seed,  
And where it must be sown, and how be wrought.  
But oh! this reckless bliss is bliss indeed!  
And for one day I choose to seal the urn  
Wherein is shrined Love's missal and his creed.  
Meantime I give my fancy all it craves;  
Like him who found the West when first he caught  
The light that glittered from the world he sought,  
And furled his sails till Dawn should show the  
land;  
While in glad dreams he saw the ambient waves  
Go rippling brightly up a golden strand.

Hath there not been a softer breath at play  
In the long woodland aisles than often sweeps  
At this rough season through their solemn deeps—  
A gentle Ariel sent by gentle May,  
Who knew it was the morn  
On which a hope was born,  
To greet the flower e'er it was fully blown,  
And nurse it as some lily of her own?  
And wherefore, save to grace a happy day,  
Did the whole West at blushing sunset glow  
With clouds that, floating up in bridal snow,  
Passed with the festal eve, rose-crowned, away?  
And now, if I may trust my straining sight,  
The heavens appear with added stars to-night,  
And deeper depths, and more celestial height,  
Than hath been reached except in dreams or death.

Hush, sweetest South ! I love thy delicate breath ;  
But hush ! methought I felt an angel's kiss !  
Oh ! all that lives is happy in my bliss.  
That lonely fir, which always seems  
As though it locked dark secrets in itself,  
          Hideth a gentle elf,  
Whose wand shall send me soon a frolic troop  
Of rainbow visions, and of moonlit dreams.  
Can joy be weary, that my eyelids droop ?  
To-night I shall not seek my curtained nest,  
          But even here find rest.  
Who whispered then ? And what are they that  
          peep  
Betwixt the foliage in the tree-top there ?  
Come, Fairy Shadows ! for the morn is near,  
When to your sombre pine ye all must creep ;  
Come, ye wild pilots of the darkness, ere  
My spirit sinks into the gulf of Sleep ;  
Even now it circles round and round the deep —  
          Appear ! Appear !

## FLOWER-LIFE

I THINK that, next to your sweet eyes,  
And pleasant books, and starry skies,  
          I love the world of flowers ;  
Less for their beauty of a day,  
Than for the tender things they say,

And for a creed I've held alway,  
That they are sentient powers.

It may be matter for a smile—  
And I laugh secretly the while  
I speak the fancy out—  
But that they love, and that they woo,  
And that they often marry too,  
And do as noisier creatures do,  
I've not the faintest doubt.

And so, I cannot deem it right  
To take them from the glad sunlight,  
As I have sometimes dared;  
Though not without an anxious sigh  
Lest this should break some gentle tie,  
Some covenant of friendship, I  
Had better far have spared.

And when, in wild or thoughtless hours,  
My hand hath crushed the tiniest flowers,  
I ne'er could shut from sight  
The corpses of the tender things,  
With other drear imaginings,  
And little angel-flowers with wings  
Would haunt me through the night.

Oh! say you, friend, the creed is fraught  
With sad, and even with painful thought,  
Nor could you bear to know

That such capacities belong  
To creatures helpless against wrong,  
At once too weak to fly the strong  
Or front the feeblest foe ?

So be it always, then, with you ;  
So be it — whether false or true —  
I press my faith on none ;  
If other fancies please you more,  
The flowers shall blossom as before,  
Dear as the Sibyl-leaves of yore,  
But senseless, every one.

Yet, though I give you no reply,  
It were not hard to justify  
My creed to partial ears ;  
But, conscious of the cruel part,  
My rhymes would flow with faltering art,  
I could not plead against your heart,  
Nor reason with your tears.

## A SUMMER SHOWER

WELCOME, rain or tempest  
From yon airy powers,  
We have languished for them  
Many sultry hours,  
And earth is sick and wan, and pines with all her  
flowers.

What have they been doing  
In the burning June?  
Riding with the genii?  
Visiting the moon?  
Or sleeping on the ice amid an arctic noon?

Bring they with them jewels  
From the sunset lands?  
What are these they scatter  
With such lavish hands?  
There are no brighter gems in Raolconda's sands.

Pattering on the gravel,  
Dropping from the eaves,  
Glancing in the grass, and  
Tinkling on the leaves,  
They flash the liquid pearls as flung from fairy  
sieves.

Meanwhile, unreluctant,  
Earth like Danaë lies;  
Listen! is it fancy,  
That beneath us sighs,  
As that warm lap receives the largesse of the skies?

Jove, it is, descendeth  
In those crystal rills;  
And this world-wide tremor  
Is a pulse that thrills  
To a god's life infused through veins of velvet hills.

Wait, thou jealous sunshine,  
Break not on their bliss ;  
Earth will blush in roses  
Many a day for this,  
And bend a brighter brow beneath thy burning kiss.

## BABY'S AGE

SHE came with April blooms and showers ;  
We count her little life by flowers.  
As buds the rose upon her cheek,  
We choose a flower for every week.  
A week of hyacinths, we say,  
And one of heart's-ease, ushered May ;  
And then because two wishes met  
Upon the rose and violet —  
I liked the Beauty, Kate, the Nun —  
The violet and the rose count one.  
A week the apple marked with white ;  
A week the lily scored in light ;  
Red poppies closed May's happy moon,  
And tulips this blue week in June.  
Here end as yet the flowery links ;  
To-day begins the week of pinks ;  
But soon — so grave, and deep, and wise  
The meaning grows in Baby's eyes,  
So *very* deep for Baby's age —  
We think to date a week with sage !

## THE MESSENGER ROSE

If you have seen a richer glow,  
Pray, tell me where your roses blow!  
Look! coral-leaved! and — mark these spots  
Red staining red in crimson clots,  
Like a sweet lip bitten through  
In a pique. There, where that hue  
Is spilt in drops, some fairy thing  
Hath gashed the azure of its wing,  
Or thence, perhaps, this very morn,  
Plucked the splinters of a thorn.

Rose! I make thy bliss my care!  
In my lady's dusky hair  
Thou shalt burn this coming night,  
With even a richer crimson light.  
To requite me thou shalt tell —  
What I might not say as well —  
How I love her; how, in brief,  
On a certain crimson leaf  
In my bosom, is a debt  
Writ in deeper crimson yet.  
If she wonder what it be —  
But she'll guess it, I foresee —  
Tell her that I date it, pray,  
From the first sweet night in May.

ON PRESSING SOME FLOWERS

So, they are dead ! Love ! when they passed  
From thee to me, our fingers met ;  
O withered darlings of the May !  
I feel those fairy fingers yet.

And for the bliss ye brought me then,  
Your faded forms are precious things ;  
No flowers so fair, no buds so sweet  
Shall bloom through all my future springs.

And so, pale ones ! with hands as soft  
As if I closed a baby's eyes,  
I'll lay you in some favorite book  
Made sacred by a poet's sighs.

Your lips shall press the sweetest song,  
The sweetest, saddest song I know,  
As ye had perished, in your pride,  
Of some lone bard's melodious woe.

Oh, Love ! hath love no holier shrine !  
Oh, heart ! could love but lend the power,  
I'd lay thy crimson pages bare,  
And every leaf should fold its flower.



1866

## ADDRESSED TO THE OLD YEAR

ART thou not glad to close  
Thy wearied eyes, O saddest child of Time,  
Eyes which have looked on every mortal crime,  
And swept the piteous round of mortal woes ?

In dark Plutonian caves,  
Beneath the lowest deep, go, hide thy head ;  
Or earth thee where the blood that thou hast  
shed  
May trickle on thee from thy countless graves !

Take with thee all thy gloom  
And guilt, and all our griefs, save what the breast,  
Without a wrong to some dear shadowy guest,  
May not surrender even to the tomb.

No tear shall weep thy fall,  
When, as the midnight bell doth toll thy fate,  
Another lifts the sceptre of thy state,  
And sits a monarch in thine ancient hall.

*Him* all the hours attend,  
With a new hope like morning in their eyes ;

Him the fair earth and him these radiant skies  
Hail as their sovereign, welcome as their friend.

Him, too, the nations wait ;  
“O lead us from the shadow of the Past,”  
In a long wail like this December blast,  
They cry, and, crying, grow less desolate.

How he will shape his sway  
They ask not—for old doubts and fears will  
cling—  
And yet they trust that, somehow, he will bring  
A sweeter sunshine than thy mildest day.

Beneath his gentle hand  
They hope to see no meadow, vale, or hill  
Stained with a deeper red than roses spill,  
When some too boisterous zephyr sweeps the  
land.

A time of peaceful prayer,  
Of law, love, labor, honest loss and gain—  
These are the visions of the coming reign  
Now floating to them on this wintry air.

## STANZAS

A MOTHER GAZES UPON HER DAUGHTER, ARRAYED  
FOR AN APPROACHING BRIDAL. WRITTEN IN IL-  
LUSTRATION OF A TABLEAU VIVANT

Is she not lovely! Oh! when, long ago,  
My own dead mother gazed upon my face,  
As I stood blushing near in bridal snow,  
I had not half her beauty and her grace.

Yet that fond mother praised, the world caressed,  
And *one* adored me — how shall *he* who soon  
Shall wear my gentle flower upon his breast,  
Prize to its utmost worth the priceless boon?

Shall he not gird her, guard her, make her rich,  
(Not as the world is rich, in outward show,)  
With all the love and watchful kindness which  
A wise and tender manhood may bestow?

Oh! I shall part from her with many tears,  
My earthly treasure, pure and undefiled!  
And not without a weight of anxious fears  
For the new future of my darling child.

And yet — for well I know that virgin heart —  
No wifely duty will she leave undone;

Nor will her love neglect that woman's art  
Which courts and keeps a love already won.

In no light girlish levity she goes  
Unto the altar where they wait her now,  
But with a thoughtful, prayerful heart that knows  
The solemn purport of a marriage vow.

And she will keep, with all her soul's deep truth,  
The lightest pledge which binds her love and  
life ;  
And she will be — no less in age than youth  
My noble child will be — a noble wife.

And he, her lover ! husband ! what of him ?  
Yes, he will shield, I think, my bud from blight !  
Yet griefs will come — enough ! my eyes are dim  
With tears I must not shed — at least, to-night.

Bless thee, my daughter ! — Oh ! she is so fair ! —  
Heaven bend above thee with its starriest  
skies !  
And make thee truly all thou dost appear  
Unto a lover's and thy mother's eyes !

## HYMN

SUNG AT AN ANNIVERSARY OF THE ASYLUM OF  
ORPHANS AT CHARLESTON

We scarce, O God ! could lisp thy name,  
When those who loved us passed away,  
And left us but thy love to claim,  
With but an infant's strength to pray.

Thou gav'st that Refuge and that Shrine,  
At which we learn to know thy ways ;  
Father ! the fatherless are thine !  
Thou wilt not spurn the orphan's praise.

Yet hear a single cry of pain !  
Lord ! whilst we dream in quiet beds,  
The summer sun and winter rain  
Beat still on many homeless heads.

And o'er this weary earth, we know,  
Young outcasts roam the waste and wave ;  
And little hands are clasped in woe  
Above some tender mother's grave.

Ye winds ! keep every storm aloof,  
And kiss away the tears they weep !  
Ye skies, that make their only roof,  
Look gently on their houseless sleep !

And thou, O Friend and Father ! find  
A home to shield their helpless youth !  
Dear hearts to love — sweet ties to bind —  
And guide and guard them in the truth !

## TO A CAPTIVE OWL

I SHOULD be dumb before thee, feathered sage !  
And gaze upon thy phiz with solemn awe,  
But for a most audacious wish to gauge  
The hoarded wisdom of thy learned crow.

Art thou, grave bird ! so wondrous wise indeed ?  
Speak freely, without fear of jest or gibe —  
What is thy moral and religious creed ?  
And what the metaphysics of thy tribe ?

A Poet, curious in birds and brutes,  
I do not question thee in idle play ;  
What is thy station ? What are thy pursuits ?  
Doubtless thou hast thy pleasures — what are  
*they ?*

Or is 't thy wont to muse and mope at once,  
Entice thy prey with airs of meditation,  
And with the unvarying habits of a dunce,  
To dine in solemn depths of contemplation ?

There may be much—the world at least says  
so —

Behind that ponderous brow and thoughtful gaze ;  
Yet such a great philosopher should know,  
It is by no means wise to think always.

And, Bird, despite thy meditative air,  
I hold thy stock of wit but paltry pelf —  
Thou show'st that same grave aspect everywhere,  
And wouldst look thoughtful, stuffed, upon a  
shelf.

I grieve to be so plain, renown'd Bird —  
Thy fame 's a flam, and thou an empty fowl ;  
And what is more, upon a Poet's word  
I 'd say as much, wert thou Minerva's owl.

So doff th' imposture of those heavy brows ;  
They do not serve to hide thy instincts base —  
And if thou must be sometimes munching *mouse*,  
Munch it, O Owl ! with less profound a face.

## LOVE'S LOGIC

AND if I ask thee for a kiss,  
I ask no more than this sweet breeze,  
With far less title to the bliss,  
Steals every minute at his ease.  
And yet how placid is thy brow!  
It seems to woo the bold caress,  
While now he takes his kiss, and now  
All sorts of freedoms with thy dress.

Or if I dare thy hand to touch,  
Hath nothing pressed its palm before?  
A flower, I'm sure, hath done as much,  
And ah! some senseless diamond more.  
It strikes me, love, the very rings,  
Now sparkling on that hand of thine,  
Could tell some truly startling things,  
If they had tongues or touch like mine.

Indeed, indeed, I do not know  
Of all that thou hast power to grant,  
A boon for which I could not show  
Some pretty precedent extant.  
Suppose, for instance, I should clasp  
Thus,— so,— and thus! — thy slender waist —  
I would not hold within my grasp  
More than this loosened zone embraced.



Oh ! put the anger from thine eyes,  
Or shut them if they still must frown ;  
Those lids, despite yon garish skies,  
Can bring a timely darkness down.  
Then, if in that convenient night,  
My lips should press thy dewy mouth,  
The touch shall be so soft, so light,  
Thou 'lt fancy me — this gentle South.

### SECOND LOVE

COULD I reveal the secret joy  
Thy presence always with it brings,  
The memories so strangely waked  
Of long forgotten things,  
  
The love, the hope, the fear, the grief,  
Which with that voice come back to me, —  
Thou wouldst forgive the impassioned gaze  
So often turned on thee.  
  
It was, indeed, that early love,  
But foretaste of this second one, —  
The soft light of the morning star  
Before the morning sun.  
  
The same dark beauty in her eyes,  
The same blonde hair and placid brow,

The same deep-meaning, quiet smile  
Thou bendest on me now,

She might have been, she *was* no more  
Than what a prescient hope could make, —  
A dear presentiment of thee  
I loved but for thy sake.

## HYMN

SUNG AT THE CONSECRATION OF MAGNOLIA CEME-  
TERY, CHARLESTON, S. C.

WHOSE was the hand that painted thee, O Death !  
In the false aspect of a ruthless foe,  
Despair and sorrow waiting on thy breath —  
O gentle Power ! who could have wronged thee  
so ?

Thou rather shouldst be crowned with fadeless  
flowers,  
Of lasting fragrance and celestial hue ;  
Or be thy couch amid funereal bowers,  
But let the stars and sunlight sparkle through.

So, with these thoughts before us, we have fixed  
And beautified, O Death ! thy mansion here,  
Where gloom and gladness — grave and garden —  
mixed,  
Make it a place to love, and not to fear.

Heaven ! shed thy most propitious dew around !  
Ye holy stars ! look down with tender eyes,  
And gild and guard and consecrate the ground  
Where we may rest, and whence we pray to rise.

## HYMN

SUNG AT A SACRED CONCERT AT COLUMBIA, S. C.

## I

FAINT falls the gentle voice of prayer  
In the wild sounds that fill the air,  
Yet, Lord, we know that voice is heard,  
Not less than if Thy throne it stirred.

## II

Thine ear, thou tender One, is caught,  
If we but bend the knee in thought ;  
No choral song that shakes the sky  
Floats farther than the Christian's sigh.

## III

Not all the darkness of the land  
Can hide the lifted eye and hand ;  
Nor need the clanging conflict cease,  
To make Thee hear our cries for peace.

## LINES TO R. L.

THAT which we are and shall be is made up  
Of what we have been. On the autumn leaf  
The crimson stains bear witness of its spring ;  
And, on its perfect nodes, the ocean shell  
Notches the slow, strange changes of its growth.  
Ourselves are our own records ; if we looked  
Rightly into that blotted crimson page  
Within our bosoms, then there were no need  
To chronicle our stories ; for the heart  
Hath, like the earth, its strata, and contains  
Its past within its present. Well for us,  
And our most cherished secrets, that within  
The round of being few there are who read  
Beneath the surface. Else our very forms,  
The merest gesture of our hands, might tell  
Much we would hide forever. Know you not  
Those eyes, in whose dark heaven I have gazed  
More curiously than on my favorite stars,  
Are deeper for such griefs as they have seen,  
And brighter for the fancies they have shrined,  
And sweeter for the loves which they have talked ?  
Oh ! that I had the power to read their smiles,  
Or sound the depth of all their glorious gloom.  
So should I learn your history from its birth,  
Through all its glad and grave experiences,  
Better than if — (your journal in my hand,

Written as only women write, with all  
A woman's shades and shapes of feeling, traced  
As with the fine touch of a needle's point) —  
I followed you from that bright hour when first  
I saw you in the garden 'mid the flowers,  
To that wherein a letter from your hand  
Made me all rich with the dear name of friend.

#### TO WHOM ?

AWAKE upon a couch of pain,  
I see a star betwixt the trees ;  
Across yon darkening field of cane,  
Comes slow and soft the evening breeze.  
My curtain's folds are faintly stirred ;  
And moving lightly in her rest,  
I hear the chirrup of a bird,  
That dreameth in some neighboring nest.

Last night I took no note of these —  
How it was passed I scarce can say ;  
'T was not in prayers to Heaven for ease,  
'T was not in wishes for the day.  
Impatient tears, and passionate sighs,  
Touched as with fire the pulse of pain, —  
I cursed, and cursed the wildering eyes  
That burned this fever in my brain.

Oh ! blessings on the quiet hour !  
My thoughts in calmer current flow ;  
She is not conscious of her power,  
And hath no knowledge of my woe.  
Perhaps, if like yon peaceful star,  
She looked upon my burning brow,  
She would not pity from afar,  
But kiss me as the breeze does now.

## TO THEE

DRAW close the lattice and the door !  
Shut out the very stars above !  
No other eyes than mine shall pore  
Upon this thrilling tale of love.  
As, since the book was open last,  
Along its dear and sacred text  
No other eyes than thine have passed —  
Be mine the eyes that trace it next !

Oh ! very nobly is it wrought, —  
This web of love's divinest light, —  
But not to feed my soul with thought,  
Hang I upon the book to-night ;  
I read it only for thy sake,  
To every page my lips I press —  
The very leaves appear to make  
A silken rustle like thy dress.

And so, as each blest page I turn,  
I seem, with many a secret thrill,  
To touch a soft white hand, and burn  
To clasp and kiss it at my will.  
Oh ! if a fancy be so sweet,  
These shadowy fingers touching mine —  
How wildly would my pulses beat,  
If they *could* feel the beat of thine !

### STORM AND CALM

SWEET are these kisses of the South,  
As dropped from woman's rosiest mouth,  
And tenderer are those azure skies  
Than this world's tenderest pair of eyes !

But ah ! beneath such influence  
Thought is too often lost in Sense ;  
And Action, faltering as we thrill,  
Sinks in the unnerved arms of Will.

Awake, thou stormy North, and blast  
The subtle spells around us cast ;  
Beat from our limbs these flowery chains  
With the sharp scourges of thy rains !

Bring with thee from thy Polar cave  
All the wild songs of wind and wave,

Of toppling berg and grinding floe,  
And the dread avalanche of snow !

Wrap us in Arctic night and clouds !  
Yell like a fiend amid the shrouds  
Of some slow-sinking vessel, when  
He hears the shrieks of drowning men !

Blend in thy mighty voice whate'er  
Of danger, terror, and despair  
Thou hast encountered in thy sweep  
Across the land and o'er the deep.

Pour in our ears all notes of woe,  
That, as these very moments flow,  
Rise like a harsh discordant psalm,  
While we lie here in tropic calm.

Sting our weak hearts with bitter shame,  
Bear us along with thee like flame ;  
And prove that even to destroy  
More God-like may be than to toy  
And rust or rot in idle joy !



## RETIREMENT

My gentle friend ! I hold no creed so false  
As that which dares to teach that we are born  
For battle only, and that in this life  
The soul, if it would burn with starlike power,  
Must needs forsooth be kindled by the sparks  
Struck from the shock of clashing human hearts.  
There is a wisdom that grows up in strife,  
And one — I like it best — that sits at home  
And learns its lessons of a thoughtful ease.  
So come ! a lonely house awaits thee ! — there  
Nor praise, nor blame shall reach us, save what  
love

Of knowledge for itself shall wake at times  
In our own bosoms ; come ! and we will build  
A wall of quiet thought, and gentle books,  
Betwixt us and the hard and bitter world.  
Sometimes — for we need not be anchorites —  
A distant friend shall cheer us through the Post,  
Or some Gazette — of course no partisan —  
Shall bring us pleasant news of pleasant things ;  
Then, twisted into graceful allumettes,  
Each ancient joke shall blaze with genuine flame  
To light our pipes and candles ; but to wars,  
Whether of words or weapons, we shall be  
Deaf — so we twain shall pass away the time  
Ev'n as a pair of happy lovers, who,

Alone, within some quiet garden-nook,  
With a clear night of stars above their heads,  
Just hear, betwixt their kisses and their talk,  
The tumult of a tempest rolling through  
A chain of neighboring mountains ; they awhile  
Pause to admire a flash that only shows  
The smile upon their faces, but, full soon,  
Turn with a quick, glad impulse, and perhaps  
A conscious wile that brings them closer yet,  
To dally with their own fond hearts, and play  
With the sweet flowers that blossom at their feet.

## A COMMON THOUGHT

SOMEWHERE on this earthly planet  
In the dust of flowers to be,  
In the dewdrop, in the sunshine,  
Sleeps a solemn day for me.

At this wakeful hour of midnight  
I behold it dawn in mist,  
And I hear a sound of sobbing  
Through the darkness — hist ! oh, hist !

In a dim and murky chamber,  
I am breathing life away ;  
Some one draws a curtain softly,  
And I watch the broadening day.

As it purples in the zenith,  
As it brightens on the lawn,  
There 's a hush of death about me,  
And a whisper, " He is gone ! "

**POEMS WRITTEN IN WAR TIMES**



## CAROLINA

### I

THE despot treads thy sacred sands,  
Thy pines give shelter to his bands,  
Thy sons stand by with idle hands,

Carolina !

He breathes at ease thy airs of balm,  
He scorns the lances of thy palm ;  
Oh ! who shall break thy craven calm,

Carolina !

Thy ancient fame is growing dim,  
A spot is on thy garment's rim ;  
Give to the winds thy battle hymn,

Carolina !

### II

Call on thy children of the hill,  
Wake swamp and river, coast and rill,  
Rouse all thy strength and all thy skill,

Carolina !

Cite wealth and science, trade and art,  
Touch with thy fire the cautious mart,  
And pour thee through the people's heart,

Carolina !

Till even the coward spurns his fears,  
And all thy fields and fens and meres  
Shall bristle like thy palm with spears,  
Carolina !

## III

Hold up the glories of thy dead ;  
Say how thy elder children bled,  
And point to Eutaw's battle-bed,  
Carolina !  
Tell how the patriot's soul was tried,  
And what his dauntless breast defied ;  
How Rutledge ruled and Laurens died,  
Carolina !  
Cry ! till thy summons, heard at last,  
Shall fall like Marion's bugle-blast  
Re-echoed from the haunted Past,  
Carolina !

## IV

I hear a murmur as of waves  
That grope their way through sunless caves,  
Like bodies struggling in their graves,  
Carolina !  
And now it deepens ; slow and grand  
It swells, as, rolling to the land,  
An ocean broke upon thy strand,  
Carolina !

Shout ! let it reach the startled Huns !  
And roar with all thy festal guns !  
It is the answer of thy sons,  
Carolina !

## V

They will not wait to hear thee call ;  
From Sachem's Head to Sumter's wall  
Resounds the voice of hut and hall,  
Carolina !  
No ! thou hast not a stain, they say,  
Or none save what the battle-day  
Shall wash in seas of blood away,  
Carolina !  
Thy skirts indeed the foe may part,  
Thy robe be pierced with sword and dart,  
They shall not touch thy noble heart,  
Carolina !

## VI

Ere thou shalt own the tyrant's thrall  
Ten times ten thousand men must fall ;  
Thy corpse may hearken to his call,  
Carolina !  
When, by thy bier, in mournful throngs  
The women chant thy mortal wrongs,  
'T will be their own funereal songs,  
Carolina !



From thy dead breast by ruffians trod  
 No helpless child shall look to God ;  
 All shall be safe beneath thy sod,  
 Carolina !

VII

Girt with such wills to do and bear,  
 Assured in right, and mailed in prayer,  
 Thou wilt not bow thee to despair,  
 Carolina !

Throw thy bold banner to the breeze !  
 Front with thy ranks the threatening seas  
 Like thine own proud armorial trees,  
 Carolina !

Fling down thy gauntlet to the Huns,  
 And roar the challenge from thy guns ;  
 Then leave the future to thy sons,  
 Carolina !

A CRY TO ARMS

Ho ! woodsmen of the mountain side !  
 Ho ! dwellers in the vales !  
 Ho ! ye who by the chafing tide  
 Have roughened in the gales !  
 Leave barn and byre, leave kin and cot,  
 Lay by the bloodless spade ;  
 Let desk, and case, and counter rot,  
 And burn your books of trade.

The despot roves your fairest lands ;  
And till he flies or fears,  
Your fields must grow but armèd bands,  
Your sheaves be sheaves of spears !  
Give up to mildew and to rust  
The useless tools of gain ;  
And feed your country's sacred dust  
With floods of crimson rain !

Come, with the weapons at your call —  
With musket, pike, or knife ;  
He wields the deadliest blade of all  
Who lightest holds his life.  
The arm that drives its unbought blows  
With all a patriot's scorn,  
Might brain a tyrant with a rose,  
Or stab him with a thorn.

Does any falter ? let him turn  
To some brave maiden's eyes,  
And catch the holy fires that burn  
In those sublunar skies.  
Oh ! could you like your women feel,  
And in their spirit march,  
A day might see your lines of steel  
Beneath the victor's arch.

What hope, O God ! would not grow warm  
When thoughts like these give cheer ?

The Lily calmly braves the storm,  
And shall the Palm-tree fear?  
No! rather let its branches court  
The rack that sweeps the plain;  
And from the Lily's regal port  
Learn how to breast the strain!

Ho! woodsmen of the mountain side!  
Ho! dwellers in the vales!  
Ho! ye who by the roaring tide  
Have roughened in the gales!  
Come! flocking gayly to the fight,  
From forest, hill, and lake;  
We battle for our Country's right,  
And for the Lily's sake!

#### CHARLESTON

CALM as that second summer which precedes  
The first fall of the snow,  
In the broad sunlight of heroic deeds,  
The City bides the foe.

As yet, behind their ramparts stern and proud,  
Her bolted thunders sleep —  
Dark Sumter, like a battlemented cloud,  
Looms o'er the solemn deep.

No Calpe frowns from lofty cliff or scar  
To guard the holy strand ;  
But Moultrie holds in leash her dogs of war  
Above the level sand.

And down the dunes a thousand guns lie couched,  
Unseen, beside the flood —  
Like tigers in some Orient jungle crouched  
That wait and watch for blood.

Meanwhile, through streets still echoing with trade,  
Walk grave and thoughtful men,  
Whose hands may one day wield the patriot's  
blade  
As lightly as the pen.

And maidens, with such eyes as would grow dim  
Over a bleeding hound,  
Seem each one to have caught the strength of him  
Whose sword she sadly bound.

Thus girt without and garrisoned at home,  
Day patient following day,  
Old Charleston looks from roof, and spire, and  
dome,  
Across her tranquil bay.

Ships, through a hundred foes, from Saxon lands  
And spicy Indian ports,

Bring Saxon steel and iron to her hands,  
And Summer to her courts.

But still, along yon dim Atlantic line,  
The only hostile smoke  
Creeps like a harmless mist above the brine,  
From some frail, floating oak.

Shall the Spring dawn, and she still clad in smiles,  
And with an unscathed brow,  
Rest in the strong arms of her palm-crowned isles,  
As fair and free as now ?

We know not ; in the temple of the Fates  
God has inscribed her doom ;  
And, all untroubled in her faith, she waits  
The triumph or the tomb.

#### RIPLEY

RICH in red honors, that upon him lie  
As lightly as the Summer dew  
Fall where he won his fame beneath the sky  
Of tropic Vera Cruz ;

Bold, scorner of the cant that has its birth  
In feeble or in failing powers ;  
A lover of all frank and genial mirth  
That wreathes the sword with flowers ;

He moves amid the warriors of the day,  
Just such a soldier as the art  
That builds its trophies upon human clay  
Moulds of a cheerful heart.

I see him in the battle that shall shake,  
Ere long, old Sumter's haughty crown,  
And from their dreams of peaceful traffic wake  
The wharves of yonder town ;

As calm as one would greet a pleasant guest,  
And quaff a cup to love and life,  
He hurls his deadliest thunders with a jest,  
And laughs amid the strife.

Yet not the gravest soldier of them all  
Surveys a field with broader scope ;  
And who behind that sea-encircled wall  
Fights with a loftier hope ?

Gay Chieftain ! on the crimson rolls of Fame  
Thy deeds are written with the sword ;  
But there are gentler thoughts which, with thy  
name,  
Thy country's page shall hoard.

A nature of that rare and happy cast  
Which looks, unsteeled, on murder's face ;

Through what dark scenes of bloodshed hast thou  
 passed,  
 Yet lost no social grace?

So, when the bard depicts thee, thou shalt wield  
 The weapon of a tyrant's doom,  
 Round which, inscribed with many a well-fought  
 field,  
 The rose of joy shall bloom.

## ETHNOGENESIS

WRITTEN DURING THE MEETING OF THE FIRST  
 SOUTHERN CONGRESS, AT MONTGOMERY, FEBRU-  
 ARY, 1861

### I

HATH not the morning dawned with added light?  
 And shall not evening call another star  
 Out of the infinite regions of the night,  
 To mark this day in Heaven? At last, we are  
 A nation among nations; and the world  
 Shall soon behold in many a distant port  
     Another flag unfurled!  
 Now, come what may, whose favor need we court?  
 And, under God, whose thunder need we fear?  
     Thank Him who placed us here  
 Beneath so kind a sky — the very sun

Takes part with us ; and on our errands run  
All breezes of the ocean ; dew and rain  
Do noiseless battle for us ; and the Year,  
And all the gentle daughters in her train,  
March in our ranks, and in our service wield

Long spears of golden grain !  
A yellow blossom as her fairy shield,  
June flings her azure banner to the wind,  
While in the order of their birth  
Her sisters pass, and many an ample field  
Grows white beneath their steps, till now, behold,  
Its endless sheets unfold

THE SNOW OF SOUTHERN SUMMERS ! Let the earth  
Rejoice ! beneath those fleeces soft and warm

Our happy land shall sleep  
In a repose as deep  
As if we lay intrenched behind  
Whole leagues of Russian ice and Arctic storm !

## II

And what if, mad with wrongs themselves have  
wrought,

In their own treachery caught,  
By their own fears made bold,  
And leagued with him of old,  
Who long since in the limits of the North  
Set up his evil throne, and warred with God —  
What if, both mad and blinded in their rage,  
Our foes should fling us down their mortal gage,



And with a hostile step profane our sod !  
We shall not shrink, my brothers, but go forth  
To meet them, marshaled by the Lord of Hosts,  
And overshadowed by the mighty ghosts  
Of Moultrie and of Eutaw — who shall foil  
Auxiliars such as these? Nor these alone,  
But every stock and stone  
Shall help us ; but the very soil,  
And all the generous wealth it gives to toil,  
And all for which we love our noble land,  
Shall fight beside, and through us ; sea and strand,  
The heart of woman, and her hand,  
Tree, fruit, and flower, and every influence,  
Gentle, or grave, or grand ;  
The winds in our defence  
Shall seem to blow ; to us the hills shall lend  
Their firmness and their calm ;  
And in our stiffened sinews we shall blend  
The strength of pine and palm !

## III

Nor would we shun the battle-ground,  
Though weak as we are strong ;  
Call up the clashing elements around,  
And test the right and wrong !  
On one side, creeds that dare to teach  
What Christ and Paul refrained to preach ;  
Codes built upon a broken pledge,  
And Charity that whets a poniard's edge ;

Fair schemes that leave the neighboring poor  
To starve and shiver at the schemer's door,  
While in the world's most liberal ranks enrolled,  
He turns some vast philanthropy to gold ;  
Religion, taking every mortal form  
But that a pure and Christian faith makes warm,  
Where not to vile fanatic passion urged,  
Or not in vague philosophies submerged,  
Repulsive with all Pharisaic leaven,  
And making laws to stay the laws of Heaven !  
And on the other, scorn of sordid gain,  
Unblemished honor, truth without a stain,  
Faith, justice, reverence, charitable wealth,  
And, for the poor and humble, laws which give,  
Not the mean right to buy the right to live,  
    But life, and home, and health !  
To doubt the end were want of trust in God,  
    Who, if he has decreed  
    That we must pass a redder sea  
Than that which rang to Miriam's holy glee,  
    Will surely raise at need  
    A Moses with his rod !

## IV

But let our fears — if fears we have — be still,  
And turn us to the future ! Could we climb  
Some mighty Alp, and view the coming time,  
The rapturous sight would fill  
    Our eyes with happy tears !

Not only for the glories which the years  
Shall bring us ; not for lands from sea to sea,  
And wealth, and power, and peace, though these  
    shall be ;  
But for the distant peoples we shall bless,  
And the hushed murmurs of a world's distress :  
For, to give labor to the poor,  
    The whole sad planet o'er,  
And save from want and crime the humblest  
    door,  
Is one among the many ends for which  
    God makes us great and rich !  
The hour perchance is not yet wholly ripe  
When all shall own it, but the type  
Whereby we shall be known in every land  
Is that vast gulf which lips our Southern strand,  
And through the cold, untempered ocean pours  
Its genial streams, that far off Arctic shores  
May sometimes catch upon the softened breeze  
Strange tropic warmth and hints of summer seas.

## CARMEN TRIUMPHALE

Go forth and bid the land rejoice,  
    Yet not too gladly, O my song !  
    Breathe softly, as if mirth would wrong  
The solemn rapture of thy voice.

Be nothing lightly done or said  
This happy day ! Our joy should flow  
Accordant with the lofty woe  
That wails above the noble dead.

Let him whose brow and breast were calm  
While yet the battle lay with God,  
Look down upon the crimson sod  
And gravely wear his mournful palm ;

And him, whose heart still weak from fear  
Beats all too gayly for the time,  
Know that intemperate glee is crime  
While one dead hero claims a tear.

Yet go thou forth, my song ! and thrill,  
With sober joy, the troubled days ;  
A nation's hymn of grateful praise  
May not be hushed for private ill.

Our foes are fallen ! Flash, ye wires !  
The mighty tidings far and nigh !  
Ye cities ! write them on the sky  
In purple and in emerald fires !

They came with many a haughty boast ;  
Their threats were heard on every breeze ;  
They darkened half the neighboring seas ;  
And swooped like vultures on the coast.

False recreants in all knightly strife,  
 Their way was wet with woman's tears;  
 Behind them flamed the toil of years,  
 And bloodshed stained the sheaves of life.

They fought as tyrants fight, or slaves;  
 God gave the dastards to our hands;  
 Their bones are bleaching on the sands,  
 Or mouldering slow in shallow graves.

What though we hear about our path  
 The heavens with howls of vengeance rent?  
 The venom of their hate is spent;  
 We need not heed their fangless wrath.

Meantime the stream they strove to chain  
 Now drinks a thousand springs, and sweeps  
 With broadening breast, and mightier deeps,  
 And rushes onward to the main;

While down the swelling current glides  
 Our Ship of State before the blast,  
 With streamers poured from every mast,  
 Her thunders roaring from her sides.

Lord! bid the frenzied tempest cease,  
 Hang out thy rainbow on the sea!  
 Laugh round her, waves! in silver glee,  
 And speed her to the port of peace!

## THE UNKNOWN DEAD

THE rain is plashing on my sill,  
But all the winds of Heaven are still ;  
And so it falls with that dull sound  
Which thrills us in the church-yard ground,  
When the first spadeful drops like lead  
Upon the coffin of the dead.  
Beyond my streaming window-pane,  
I cannot see the neighboring vane,  
Yet from its old familiar tower  
The bell comes, muffled, through the shower.  
What strange and unsuspected link  
Of feeling touched, has made me think —  
While with a vacant soul and eye  
I watch that gray and stony sky —  
Of nameless graves on battle-plains  
Washed by a single winter's rains,  
Where, some beneath Virginian hills,  
And some by green Atlantic rills,  
Some by the waters of the West,  
A myriad unknown heroes rest.  
Ah ! not the chiefs, who, dying, see  
Their flags in front of victory,  
Or, at their life-blood's noble cost  
Pay for a battle nobly lost,  
Claim from their monumental beds  
The bitterest tears a nation sheds.

Beneath yon lonely mound — the spot  
By all save some fond few forgot —  
Lie the true martyrs of the fight  
Which strikes for freedom and for right.  
Of them, their patriot zeal and pride,  
The lofty faith that with them died,  
No grateful page shall farther tell  
Than that so many bravely fell ;  
And we can only dimly guess  
What worlds of all this world's distress,  
What utter woe, despair, and dearth,  
Their fate has brought to many a hearth.  
Just such a sky as this should weep  
Above them, always, where they sleep ;  
Yet, haply, at this very hour,  
Their graves are like a lover's bower ;  
And Nature's self, with eyes unwet,  
Oblivious of the crimson debt  
To which she owes her April grace,  
Laughs gayly o'er their burial-place.

#### THE TWO ARMIES

Two armies stand enrolled beneath  
The banner with the starry wreath ;  
One, facing battle, blight and blast,  
Through twice a hundred fields has passed ;  
Its deeds against a ruffian foe,  
Stream, valley, hill, and mountain know,

Till every wind that sweeps the land  
Goes, glory laden, from the strand.

The other, with a narrower scope,  
Yet led by not less grand a hope,  
Hath won, perhaps, as proud a place,  
And wears its fame with meeker grace.  
Wives march beneath its glittering sign,  
Fond mothers swell the lovely line,  
And many a sweetheart hides her blush  
In the young patriot's generous flush.

No breeze of battle ever fanned  
The colors of that tender band ;  
Its office is beside the bed,  
Where throbs some sick or wounded head.  
It does not court the soldier's tomb,  
But plies the needle and the loom ;  
And, by a thousand peaceful deeds,  
Supplies a struggling nation's needs.

Nor is that army's gentle might  
Unfelt amid the deadly fight ;  
It nerves the son's, the husband's hand,  
It points the lover's fearless brand ;  
It thrills the languid, warms the cold,  
Gives even new courage to the bold ;  
And sometimes lifts the veriest clod  
To its own lofty trust in God.



When Heaven shall blow the trump of peace,  
And bid this weary warfare cease,  
Their several missions nobly done,  
The triumph grasped, and freedom won,  
Both armies, from their toils at rest,  
Alike may claim the victor's crest,  
But each shall see its dearest prize  
Gleam softly from the other's eyes.

### CHRISTMAS

How grace this hallowed day?  
Shall happy bells, from yonder ancient spire,  
Send their glad greetings to each Christmas fire  
Round which the children play?

Alas! for many a moon,  
That tongueless tower hath cleaved the Sabbath  
air,  
Mute as an obelisk of ice, aglare  
Beneath an Arctic noon.

Shame to the foes that drown  
Our psalms of worship with their impious drum,  
The sweetest chimes in all the land lie dumb  
In some far rustic town.

There, let us think, they keep,  
Of the dead Yules which here beside the sea

They've ushered in with old-world, English glee,  
Some echoes in their sleep.

How shall we grace the day?  
With feast, and song, and dance, and antique  
sports,  
And shout of happy children in the courts,  
And tales of ghost and fay?

Is there indeed a door,  
Where the old pastimes, with their lawful noise,  
And all the merry round of Christmas joys,  
Could enter as of yore?

Would not some pallid face  
Look in upon the banquet, calling up  
Dread shapes of battles in the wassail cup,  
And trouble all the place?

How could we bear the mirth,  
While some loved reveler of a year ago  
Keeps his mute Christmas now beneath the snow,  
In cold Virginian earth?

How shall we grace the day?  
Ah! let the thought that on this holy morn  
The Prince of Peace — the Prince of Peace was  
born,  
Employ us, while we pray!

Pray for the peace which long  
Hath left this tortured land, and haply now  
Holds its white court on some far mountain's brow,  
There hardly safe from wrong !

Let every sacred fane  
Call its sad votaries to the shrine of God,  
And, with the cloister and the tented sod,  
Join in one solemn strain !

With pomp of Roman form,  
With the grave ritual brought from England's  
shore,  
And with the simple faith which asks no more  
Than that the heart be warm !

He, who, till time shall cease,  
Will watch that earth, where once, not all in vain,  
He died to give us peace, may not disdain  
A prayer whose theme is — peace.

Perhaps ere yet the Spring  
Hath died into the Summer, over all  
The land, the peace of His vast love shall fall,  
Like some protecting wing.

Oh, ponder what it means !  
Oh, turn the rapturous thought in every way !  
Oh, give the vision and the fancy play,  
And shape the coming scenes !

Peace in the quiet dales,  
Made rankly fertile by the blood of men,  
Peace in the woodland, and the lonely glen,  
Peace in the peopled vales !

Peace in the crowded town,  
Peace in a thousand fields of waving grain,  
Peace in the highway and the flowery lane,  
Peace on the wind-swept down !

Peace on the farthest seas,  
Peace in our sheltered bays and ample streams,  
Peace wheresoe'er our starry garland gleams,  
And peace in every breeze !

Peace on the whirring marts,  
Peace where the scholar thinks, the hunter roams,  
Peace, God of Peace ! peace, peace, in all our  
homes,  
And peace in all our hearts !

## ODE

SUNG ON THE OCCASION OF DECORATING THE GRAVES  
OF THE CONFEDERATE DEAD, AT MAGNOLIA CEME-  
TERY, CHARLESTON, S. C., 1867

## I

SLEEP sweetly in your humble graves,  
Sleep, martyrs of a fallen cause ;  
Though yet no marble column craves  
The pilgrim here to pause.

## II

In seeds of laurel in the earth  
The blossom of your fame is blown,  
And somewhere, waiting for its birth,  
The shaft is in the stone !

## III

Meanwhile, behalf the tardy years  
Which keep in trust your storied tombs,  
Behold ! your sisters bring their tears,  
And these memorial blooms.

## IV

Small tributes ! but your shades will smile  
More proudly on these wreaths to-day,  
Than when some cannon-moulded pile  
Shall overlook this bay.

## V

Stoop, angels, hither from the skies !  
There is no holier spot of ground  
Than where defeated valor lies,  
By mourning beauty crowned !



## SONNETS





## SONNETS

### I

POET! if on a lasting fame be bent  
Thy unperturbing hopes, thou will not roam  
Too far from thine own happy heart and home;  
Cling to the lowly earth, and be content!  
So shall thy name be dear to many a heart;  
So shall the noblest truths by thee be taught;  
The flower and fruit of wholesome human thought  
Bless the sweet labors of thy gentle art.  
The brightest stars are nearest to the earth,  
And we may track the mighty sun above,  
Even by the shadow of a slender flower.  
Always, O bard, humility is power!  
And thou mayst draw from matters of the hearth  
Truths wide as nations, and as deep as love.

## II

Most men know love but as a part of life ;  
They hide it in some corner of the breast,  
Even from themselves ; and only when they rest  
In the brief pauses of that daily strife,  
Wherewith the world might else be not so rife,  
They draw it forth (as one draws forth a toy  
To soothe some ardent, kiss-exacting boy)  
And hold it up to sister, child, or wife.  
Ah me ! why may not love and life be one ?  
Why walk we thus alone, when by our side,  
Love, like a visible God, might be our guide ?  
How would the marts grow noble ! and the street,  
Worn like a dungeon-floor by weary feet,  
Seem then a golden court-way of the Sun !

## III

LIFE ever seems as from its present site  
It aimed to lure us. Mountains of the past  
It melts, with all their crags and caverns vast,  
Into a purple cloud! Across the night  
Which hides what is to be, it shoots a light  
All rosy with the yet unrisen dawn.  
Not the near daisies, but yon distant height  
Attracts us, lying on this emerald lawn.  
And always, be the landscape what it may —  
Blue, misty hill or sweep of glimmering plain —  
It is the eye's endeavor still to gain  
The fine, faint limit of the bounding day.  
God, haply, in this mystic mode, would fain  
Hint of a happier home, far, far away!

*For our God is a consuming fire.*

## IV

THEY dub thee idler, smiling sneeringly,  
And why? because, forsooth, so many moons,  
Here dwelling voiceless by the voiceful sea,  
Thou hast not set thy thoughts to paltry tunes  
In song or sonnet. Them these golden noons  
Oppress not with their beauty; they could prate,  
Even while a prophet read the solemn runes  
On which is hanging some imperial fate.  
How know they, these good gossips, what to thee  
The ocean and its wanderers may have brought?  
How know they, in their busy vacancy,  
With what far aim thy spirit may be fraught?  
Or that thou dost not bow thee silently  
Before some great unutterable thought?

## V

SOME truths there be are better left unsaid ;  
Much is there that we may not speak unblamed.  
On words, as wings, how many joys have fled !  
The jealous fairies love not to be named.  
There is an old-world tale of one whose bed  
A genius graced, to all, save him, unknown ;  
One day the secret passed his lips, and sped  
As secrets speed — thenceforth he slept alone.  
Too much, oh ! far too much is told in books ;  
Too broad a daylight wraps us all and each.  
Ah ! it is well that, deeper than our looks,  
Some secrets lie beyond conjecture's reach.  
Ah ! it is well that in the soul are nooks  
That will not open to the keys of speech.

## VI

I SCARCELY grieve, O Nature ! at the lot  
That pent my life within a city's bounds,  
And shut me from thy sweetest sights and sounds.  
Perhaps I had not learned, if some lone cot  
Had nursed a dreamy childhood, what the mart  
Taught me amid its turmoil ; so my youth  
Had missed full many a stern but wholesome truth.  
Here, too, O Nature ! in this haunt of Art,  
Thy power is on me, and I own thy thrall.  
There is no unimpressive spot on earth !  
The beauty of the stars is over all,  
And Day and Darkness visit every hearth.  
Clouds do not scorn us : yonder factory's smoke  
Looked like a golden mist when morning broke.

## VII

GRIEF dies like joy ; the tears upon my cheek  
Will disappear like dew. Dear God ! I know  
Thy kindly Providence hath made it so,  
And thank thee for the law. I am too weak  
To make a friend of Sorrow, or to wear,  
With that dark angel ever by my side  
(Though to thy heaven there be no better guide),  
A front of manly calm. Yet, for I hear  
How woe hath cleansed, how grief can deify,  
So weak a thing it seems that grief should die,  
And love and friendship with it, I could pray,  
That if it might not gloom upon my brow,  
Nor weigh upon my arm as it doth now,  
No grief of mine should ever pass away.



## VIII

At last, beloved Nature ! I have met  
Thee face to face upon thy breezy hills,  
And boldly, where thy inmost bowers are set,  
Gazed on thee naked in thy mountain rills.  
When first I felt thy breath upon my brow,  
Tears of strange ecstasy gushed out like rain,  
And with a longing, passionate as vain,  
I strove to clasp thee. But, I know not how,  
Always before me didst thou seem to glide ;  
And often from one sunny mountain-side,  
Upon the next bright peak I saw thee kneel,  
And heard thy voice upon the billowy blast ;  
But, climbing, only reached that shrine to feel  
The shadow of a Presence which had passed.

## IX

I KNOW not why, but all this weary day,  
Suggested by no definite grief or pain,  
Sad fancies have been flitting through my brain;  
Now it has been a vessel losing way,  
Rounding a stormy headland; now a gray  
Dull waste of clouds above a wintry main;  
And then, a banner, drooping in the rain,  
And meadows beaten into bloody clay.  
Strolling at random with this shadowy woe  
At heart, I chanced to wander hither! Lo!  
A league of desolate marsh-land, with its lush,  
Hot grasses in a noisome, tide-left bed,  
And faint, warm airs, that rustle in the hush,  
Like whispers round the body of the dead!

## X

(WRITTEN ON A VERY SMALL SHEET OF NOTE-  
PAPER)

WERE I the poet-laureate of the fairies,  
Who in a rose-leaf finds too broad a page ;  
Or could I, like your beautiful canaries,  
Sing with free heart and happy, in a cage ;  
Perhaps I might within this little space  
(As in some Eastern tale, by magic power,  
A giant is imprisoned in a flower)  
Have told you something with a poet's grace.  
But I need wider limits, ampler scope,  
A world of freedom for a world of passion,  
And even then, the glory of my hope  
Would not be uttered in its stateliest fashion ;  
Yet, lady, when fit language shall have told it,  
You 'll find one little heart enough to hold it !

## XI

WHICH are the clouds, and which the mountains?

See,

They mix and melt together! Yon blue hill  
Looks fleeting as the vapors which distill  
Their dews upon its summit, while the free  
And far-off clouds, now solid, dark, and still,  
An aspect wear of calm eternity.  
Each seems the other, as our fancies will —  
The cloud a mount, the mount a cloud, and we  
Gaze doubtfully. So everywhere on earth,  
This foothold where we stand with slipping feet,  
The unsubstantial and substantial meet,  
And we are fooled until made wise by Time.  
Is not the obvious lesson something worth,  
Lady? or have I wov'n an idle rhyme?

## XII

WHAT gossamer lures thee now? What hope, what  
name  
Is on thy lips? What dreams to fruit have grown?  
Thou who hast turned *one* Poet-heart to stone,  
Is thine yet burning with its seraph flame?  
Let me give back a warning of thine own,  
That, falling from thee many moons ago,  
Sank on my soul like the prophetic moan  
Of some young Sibyl shadowing her own woe.  
The words are thine, and will not do thee wrong,  
I only bind their solemn charge to song.  
Thy tread is on a quicksand — oh! be wise!  
Nor, in the passionate eagerness of youth,  
*Mistake thy bosom-serpent's glittering eyes*  
*For the calm lights of Reason and of Truth.*

## XIII

I THANK you, kind and best belov'd friend,  
With the same thanks one murmurs to a sister,  
When, for some gentle favor, he hath kissed her,  
Less for the gifts than for the love you send,  
Less for the flowers than what the flowers convey,  
If I, indeed, divine their meaning truly,  
And not unto myself ascribe, unduly,  
Things which you neither meant nor wished to say,  
Oh! tell me, is the hope then all misplaced?  
And am I flattered by my own affection?  
But in your beauteous gift, methought I traced  
Something above a short-lived predilection,  
And which, for that I know no dearer name,  
I designate as love, without love's flame.

## XIV

ARE these wild thoughts, thus fettered in my  
rhymes,  
Indeed the product of my heart and brain?  
How strange that on my ear the rhythmic strain  
Falls like faint memories of far-off times!  
When did I feel the sorrow, act the part,  
Which I have striv'n to shadow forth in song?  
In what dead century swept that mingled throng  
Of mighty pains and pleasures through my heart?  
Not in the yesterdays of that still life  
Which I have passed so free and far from strife,  
But somewhere in this weary world I know,  
In some strange land, beneath some orient clime,  
I saw or shared a martyrdom sublime,  
And felt a deeper grief than any later woe.

## XV

## IN MEMORIAM — HARRIS SIMONS

TRUE Christian, tender husband, gentle Sire,  
A stricken household mourns thee, but its loss  
Is Heaven's gain and thine; upon the cross  
God hangs the crown, the pinion, and the lyre :  
And thou hast won them all. Could we desire  
To quench that diadem's celestial light,  
To hush thy song and stay thy heavenward flight,  
Because we miss thee by this autumn fire ?  
Ah, no ! ah, no ! — chant on ! — soar on ! — Reign  
on !

For we are better — thou art happier thus ;  
And haply from the splendor of thy throne,  
Or haply from the echoes of thy psalm,  
Something may fall upon us, like the calm  
To which thou shalt hereafter welcome us !





POEMS NOW FIRST COLLECTED



## SONG

COMPOSED FOR WASHINGTON'S BIRTHDAY, AND RESPECTFULLY INSCRIBED TO THE OFFICERS AND MEMBERS OF THE WASHINGTON LIGHT INFANTRY OF CHARLESTON, FEBRUARY 22, 1859

A HUNDRED years and more ago  
A little child was born —  
To-day, with pomp of martial show,  
We hail his natal morn.

Who guessed as that poor infant wept  
Upon a woman's knee,  
A nation from the centuries stept  
As weak and frail as he?

Who saw the future on his brow  
Upon that happy morn?  
We are a mighty nation now  
Because that child was born.

To him, and to his spirit's scope,  
Besides a glorious home,  
We owe that what we have and hope  
Are more than Greece and Rome.

## A BOUQUET

TAKE first a Cowslip, then an Asphodel,  
A bridal Rose, some snowy Orange flowers ;  
A Lily next, and by its spotless bell  
Place the bright Iris, darling of the showers ;  
Set gold Nasturtiums, Elder blooms between,  
And Heart's-ease to the Orchis marry sweetly ;  
Then with red Pinks, and slips of Evergreen,  
You will possess — all folded up discreetly —  
In one bouquet, that none but you may know,  
The name I love beyond all names below.

## LINES

I STOOPED from star-bright regions, where  
Thou canst not enter even in prayer ;  
And thought to light thy heart and hearth  
With all the poesy of earth.

Oh, foolish hope ! those mystic gleams  
To thee were unsubstantial dreams ;  
The paltry world had made thee blind,  
And shut thy heart and dulled thy mind.

I was a vassal at thy feet,  
And cringed more meanly than was meet,  
And since I dared not to be free,  
Was scouted as a slave should be.

I gave thee all — my truth, my trust —  
I bowed my spirit in the dust,  
I put a crown upon thy brow,  
And am its proper victim now.

## A TRIFLE

I KNOW not why, but ev'n to me  
My songs seem sweet when read to thee.

Perhaps in this the pleasure lies —  
I read my thoughts within thine eyes.

And so dare fancy that my art  
May sink as deeply as thy heart.

Perhaps I love to make my words  
Sing round thee like so many birds,

Or, maybe, they are only sweet  
As they seem offerings at thy feet.

Or haply, Lily, when I speak,  
I think, perchance, they touch thy cheek,

Or with a yet more precious bliss,  
Die on thy red lips in a kiss.

Each reason here — I cannot tell —  
Or all perhaps may solve the spell.

But if she watch when I am by,  
Lily may deeper see than I.

## LINES

I SAW, or dreamed I saw, her sitting lone,  
Her neck bent like a swan's, her brown eyes  
thrown

On some sweet poem — his, I think, who sings  
Enone, or the hapless Maud : no rings  
Flashed from the dainty fingers, which held back  
Her beautiful blonde hair. Ah ! would these black  
Locks of mine own were mingling with it now,  
And these warm lips were pressed against her  
brow !

And, as she turned a page, methought I heard —  
Hush ! could it be ? — a faintly murmured word,  
It was so softly dwelt on — such a smile  
Played on her brow and wreathed her lip the while  
That my heart leaped to hear it, and a flame

• Burned on my forehead — Sa'ra ! — 't was my  
name.



## SONNET

If I have graced no single song of mine  
With thy sweet name, they all are full of thee;  
Thou art my Muse, my "May," my "Madeline:"  
But "Julia"! — ah! that gentle name to me  
Is something far too sacred for the throng  
Of worldly listeners 'round me. Yet ev'n now  
I weave a chaplet for thy sinless brow;—  
Wilt thou not wear it? 'T is a fashionable song,—  
I will not say of what, — but on it I  
Have wreaked heart, mind, my love, my hopes of  
fame,  
Yet after all it hath no nobler aim  
Than thy dear praise. Ere many moons pass by,  
When the lost gem is set, the crown complete,  
I'll lay a poet's tribute at thy feet.

## TO ROSA —: ACROSTIC

I took a Rosebud from a certain bower,  
And by its side placed an Orange flower,  
Then with the Speedwell, blended the perfume  
And the sweet beauty of an Apple-bloom,  
And thus, 't is one of the loveliest feats,  
Is spelled a gentle lady's name in sweets.

ELECTROTYPED AND PRINTED  
BY H. O. HOUGHTON AND CO.

---

*The Riverside Press*

---

CAMBRIDGE, MASS., U. S. A.



